ओ३म्

दयानन्दसन्देश

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट का मासिक पत्र

फरवरी २०१८

Date of Printing = 05-02-18
प्रकाशन दिनांक= 05-02-18

वर्ष ४७ : अङ्क ४
दयानन्दाब्द : १९३
विक्रम-संवत् : फाल्गुन, २०७४
सृष्टि-संवत् : १,९६,०८,५३,११८

संस्थापक : **स्व० ला० दीपचन्द आर्य**
प्रकाशक व सम्पादक : धर्मपाल आर्य
सह सम्पादक : ओम प्रकाश शास्त्री
व्यवस्थापक : विवेक गुप्ता

कार्यालय :

दयानन्दसन्देश (मासिक)

४२७, मन्दिर वाली गली, नया बांस,
खारी बावली, दिल्ली-६
दूरभाष : २३९८५५४५, ४३७८११९१
चलभाष : ९६५०५२२७७८
E-mail : aspt.india@gmail.com

एक प्रति ५.०० रु०
वार्षिक शुल्क ५०) रुपये
आजीवन सदस्यता ५००) रुपये
विदेश में २०००) रुपये

इस अंक में

❑ स्मृति के प्रकार..... २
❑ वेदोपदेश ३
❑ संस्कारहीनता की शिकार..... 4
❑ आर्यों का संघर्ष 10
❑ विश्व शान्ति..... 13
❑ अद्भुत भारतीय शिल्पकला..... 16
❑ मूर्तिपूजा पर ऋषि दयानन्द.... 20
❑ मृत्युभोज..... 22

विशेष : दयानन्द सन्देश में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। उनसे सम्पादक की पूर्णतया सहमति आवश्यक नहीं है। अत: किसी भी चर्चा/परिचर्चा एवं वाद-विवाद के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी होंगे।

सत्यार्थप्रकाश

प्रचार संस्करण ३००० रुपये सैकड़ा
स्पेशल (सजिल्द) ५००० रुपये सैकड़ा में प्राप्त करें।

स्मृति के प्रकार व निमित्त

(उत्तरा नेरूर्कर, बंगलौर, मो.- 09845058310)

कई जनों को मेरा मानस-विद्या (psychology) पर आधारित लेख 'मन और फ्रौयड्' अच्छा लगा, सो उसी श्रृंखला में एक और विवेचन प्रस्तुत कर रही हूँ। आशा है, सभी पाठकों की इससे ज्ञानवृद्धि होगी। विषय है स्मृति और लेख में पुनः पाश्चात्य और प्राचीन भारतीय मतों की तुलना दर्शा रही हूँ।

भारतीय ग्रन्थों में स्मृति को अन्तःकरण के अवयव 'चित्त' का कार्य माना गया है। क्योंकि अन्तःकरण के सभी भाग एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं, इसलिए उसके चारों भागों को हम पुनः देख लेते हैं-

१) मन- संकल्प-विकल्प करने वाला अर्थात् बुद्धि से सन्देश ग्रहण कर उसको शरीर में क्रियान्वित करना अथवा इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को बुद्धि तक पहुँचाना।

२) बुद्धि- निश्चय करने वाला अर्थात् मन से प्राप्त ज्ञान क्या है, उसे स्मृति के आधार पर निश्चित करना और उसके अनुसार क्या चेष्टा करनी चाहिए, यह सन्देश मन को भेजना।

३) चित्त- स्मरण करने वाला अर्थात् अनुभवों को स्मृति में सुरक्षित करने वाला और आवश्यकता पड़ने पर उनको स्मृति से बाहर निकालने वाला- स्मरण कराने वाला।

४) अहंकार- अभिमान करने वाला अर्थात् आत्मा का यह सोचना कि प्रकृति का यह शरीररूपी अंश मैं हूँ।

कभी-कभी **'मन'** शब्द से इन चारों विभागों का ग्रहण किया जाता है। फिर जो मन को एक समय में केवल एक ज्ञान रखने वाला बताया गया है (युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।।न्याय० १/१/१६।।), उसके अनुसार चारों ही भागों में यह गुण घटाया जाता है। परन्तु यह सही नहीं है। यदि ऐसा होता, तो हम कभी भी किसी को पहचान नहीं पाते, न किसी श्लोक के अर्थ कर पाते, न ज्ञान को आगे बढ़ा पाते, क्योंकि इन सभी में एक से अधिक ज्ञानों को मिलाकर निष्कर्ष निकलता है। तो पहले हमें यह सोच ठीक कर लेनी चाहिए- केवल उपर्युक्त मन ही एक काल में एक कार्य/ज्ञान करता है।

इन विभागों को ध्यान में रखते हुए, हम चित्त और स्मृति का विशेष अध्ययन करेंगे। भारतीय परम्परा में, मेरे सीमित ज्ञान में, स्मृति का और विभाजन नहीं किया गया है। उसके निमित्तों का तो विशद वर्णन उपलब्ध होता है, जिसे हम आगे देखेंगे, परन्तु स्मृति के स्वयं प्रकार नहीं कहे गए हैं। पाश्चात्य अन्वेषण से स्मृति के तीन विभाग ज्ञात होते हैं। ये इस प्रकार हैं (हिन्दी के नाम मेरी परिकल्पना हैं!)-

१) तात्कालिक स्मृति (सैन्सरी रजिस्टर):-

यह स्मृति का प्रथम पड़ाव होता है। इसमें किसी भी क्षण में इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले सभी संकेत उपलब्ध होते हैं। इसलिए हमें इसे मन से पूर्व की स्थिति मानना पड़ेगा। यह केवल चौथाई सैकण्ड के लिए उपलब्ध होती है। परन्तु श्रवण किया शब्द कुछ देर और- ४ सैकण्ड तक रह सकता है। इसलिए यदि आप पूर्व क्षण की किसी भी अनुभूति को तुरन्त याद करें, तो आप को सब याद आ जाएगा- रूप-रंग, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द कुछ अधिक समय तक। इसके बाद मन केवल एक अनुभूति- जिस पर हम ध्यान दे रहे हों, या जो हमारी सुरक्षा के लिए आवश्यक हो, या अधिक तीव्र हो- उसको बुद्धि तक पहुँचा देता है। भारतीय सोच में इसे इन्द्रिय से अर्थ-ग्रहण की श्रेणी में ही रखा गया है।

२) अल्पकालिक स्मृति (शॉर्ट-टर्म मैमोरी)-

तात्कालिक स्मृति के समान, यह स्मृति अपने आप बन जाती है, इसे याद रखने के लिए श्रम नहीं करना पड़ता। जिस भी वस्तु पर हमारा ध्यान होता है, वह

शेष पृष्ठ ६ पर

ओ३म्

वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। महर्षि दयानन्द

वेदोपदेश

देश का राजा अग्नि के तुल्य तेजस्वी होना चाहिए। उसके राज्य में वीर सेना तथा प्रजा का धन सुरक्षित होना चाहिए।

अग्निः ऋषिः अग्निः (राजा) देवता। भूरिग्बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः।।

पुनस्तमेव विषयमाह।।

राजधर्म विषय का फिर उपदेश दिया है।।

ओ३म् अति निहोऽअति स्रिधोऽत्यचित्तिमत्यरातिमग्ने।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता सहस्वाथास्मभ्यꣳ सहवीराꣳरयिं दाः।।यजु० २७/६।

पदार्थः **(अति)** अतिशयेन **(निहः)** योऽसत्यं नितरां जहाति। **(स्रिधः)** दुष्टाचारान् **(अति)** अतिक्रम्य **(अचित्तिम्)** अज्ञानम् **(अति)** **(अरातिम्)** अदानम् **(अग्ने)** तेजस्विन् प्रजापते **(विश्वाः)** सर्वाणि खलु **(अग्ने)** दृढ़विद्य **(दुरिता)** दुष्टाचरणानि **(सहस्व)** (अथ)। **(अस्मभ्यम्)** **(सहवीराम्)** वीरैः सह वर्त्तमानां सेनाम् **(रयिम्)** धनम् च **(दाः)** दद्याः।।

सपदार्थान्वयः हे **(अग्ने)** तेजस्विन् सभापते! त्वम् **(अति)** अतिशयेन **(निहः)** योऽसत्यं नितरां जहाति सः सन् **(स्रिधः)** दुष्टाचारान् **(अति)** अतिशयेन **(सहस्व)** **(अचित्तिम्)** अज्ञानम् **(अति)** **(अरातिम्)** अदानम् **(अति)** अतिक्रम्य **(सहस्व)**।

हे **(अग्ने)** दृढ़विद्य! त्वं **(हि)** खलु **(विश्वा)** सर्वाणि **(दुरिता)** दुष्टाचरणानि **(अति)** अतिशयेन **(सहस्व)** **(अथ)** **(अस्मभ्यम्)** सहवीराम् **(वीरैः सह वर्तमानां सेनां)** **(रयिम्)** धनं च **(दाः)** दद्याः।।

भाषार्थः हे **(अग्ने)** तेजस्वी सभापते! तू **(अति)** अत्यन्त **(निहः)** असत्य का त्याग करने वाला होकर **(स्रिधः)** दुष्ट आचरण करने वाले पुरुषों को **(अति)** सर्वथा **(सहस्व)** नष्ट कर **(अति)** अत्यन्त **(अचित्तिम्)** अज्ञान **(अति)** अत्यन्त **(अरातिम्)** अदानभाव को **(सहस्व)** नष्ट कर।

हे **(अग्ने)** दृढ़विद्य! त्वं **(हि)** निश्चय से **(विश्वा)** सब **(दुरिता)** दुष्ट आचरणों को **(अति)** अत्यन्त **(सहस्व)** नष्ट कर **(अथ)** और **(अस्मभ्यम्)** हमें **(सहवीराम्)** वीरों से युक्त सेना और **(रयिम्)** धन को **(दद्याः)** दे।।

भावार्थः ये दुष्टाचारत्यागिनः कुत्सितानां निरोधका अज्ञानमदानं च पृथक् कुर्वाणाः, दुर्व्यसनेभ्यः पृथक् भूताः सुखदुःखयोः सोढ़ारः वीरसेनाप्रियाः यथा-गुणानां जनानां योग्यं सत्कारं कुर्वन्तः सन्तः न्यायेन राज्यं पालययुस्ते सदा सुखिनो भेवयुरिति।।

भावार्थः जो दुष्ट आचरण का त्याग करने वाले, कुत्सित= निन्दनीय कर्मों को रोकने वाले, अज्ञान और अदान को दूर करने वाले, दुर्व्यसनों से पृथक् सुख-दुःख को सहन करने वाले, वीर-सेना के प्रिय, गुणों के अनुसार जनों का योग्य सत्कार करते हुए न्याय से राज्य का पालन करते हैं, वे सदा सुखी रहते हैं।

(''दयानन्द-यजुर्वेद-भाष्य-भास्कर'' से उद्धृत,
व्याख्याता स्व० श्री पं० आचार्य सुदर्शनदेव)

संस्कारहीनता की शिकार युवा पीढ़ी

(धर्मपाल आर्य)

गत माह (जनवरी) के दो दिन ऐसे थे, जिन्होंने एक ऐसी बहस को जन्म दिया है, जिस पर सकारात्मक और निर्णायक चर्चा होना बहुत जरूरी हो गया है। दोनों ही प्रकरणों से संवादहीनता और संवदेनहीनता झलकती है, दोनों ही प्रकरणों से युवा पीढ़ी के भटकने की संभावनाएं प्रबल होती दिखाई दे रही हैं, दोनों ही प्रकरणों से सामाजिक, समरसता और हमारे नैतिक मूल्य दांव पर लगते दिखाई दे रहे हैं और दोनों ही प्रकरणों से हमारी शिक्षाप्रणाली पर गम्भीर प्रश्नचिह्न खड़े होते हैं। प्रबुद्ध पाठकों के मन में प्रश्न उठ रहा होगा कि आखिर वे दो प्रकरण कौन से हैं, जिनसे समाज में संवादहीनता, संवेदनहीनता, युवा पीढ़ी के भटकने की संभावना, सामाजिक ताने-बाने के टूटने की आहट, नैतिक मूल्यों के दांव पर लगने तथा शिक्षा प्रणाली पर गम्भीर प्रश्न खड़े होते हैं? प्रथम प्रसंग है नौ जनवरी का, जिसमें किसी ने न्यायालय में इस आशय से याचिका दायर की कि केन्द्रीय विद्यालयों में प्रातःकालीन जो प्रार्थना होती है, वह (प्रार्थना) उस (नागरिक) के संविधानप्रदत्त मौलिक अधिकारों का हनन है। अधिकार के प्रति जागरूक होना बुरा नहीं है लेकिन उस (अधिकार) का कोई मापदण्ड तो होना ही चाहिए। अधिकारों के प्रति जिस प्रकार की नकारात्मक सोच पनप रही है, वह देश की एकता, अखण्डता और उसकी सांस्कृतिक सनातनी परम्परा के लिए अत्यधिक घातक है। ''वन्दे मातरम्'' गाना मौलिक अधिकारों का हनन है, विद्यालयों में प्रातःकालीन प्रार्थना मौलिक अधिकारों का हनन है, इसके विपरीत मांस खाना मेरा मौलिक अधिकार है, देश के खिलाफ नारे लगाना मौलिक अधिकार है, कशमीर में सेना पर पत्थरबाजी करना और उन पत्थरबाजों का बेशर्मी के साथ समर्थन करना यदि मौलिक अधिकार है, तो मुझे यह लिखने में लेशमात्र भी संकोच नहीं है कि इस प्रकार की मानसिकता के लोग अधिकार और देशद्रोह में कोई भेद नहीं मानते। यदि ईश्वर से नैतिक बल माँगने में, मनोबल माँगने में, यदि ईश्वर से आत्मिक बल माँगने में, यदि भगवान से मानवता के पथ पर चलने की शक्ति-सामर्थ्य माँगने में, यदि ईश्वर से ईश्वर का सामीप्य (सान्निध्य) माँगने में, यदि सन्मार्ग पर चलने की क्षमता माँगने में और ईश्वर से बुराइयों से बचने की क्षमता माँगने में आज की युवा पीढ़ी के मौलिक अधिकारों का हनन होता है, तो बच्चों के सर्वांगीण विकास की कल्पना करना निरर्थक है। प्रार्थना के विरुद्ध दायर याचिका से शिक्षा के तीन महत्वपूर्ण अंगों (माता, पिता और गुरु) पर सवाल खड़े होते हैं कि आखिर माता, पिता और उसके अध्यापक बच्चे को क्या बना रहे हैं? आखिर क्यों हमारे किशोर हमारी सांस्कृतिक विरासत से विद्रोह कर रहे हैं? महाभारत में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि **''नास्ति मातृसमो गुरुः''** अर्थात् माँ से बढ़कर सन्तान का कोई गुरु नहीं है। आचार्य के विषय में निरुक्त में कहा गया है-

आचार्य कस्मात्? आचारं ग्राह्यति,
आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा''।

अर्थात् जो शिष्य को सदाचार ग्रहण करावे, उसे आचार्य कहते हैं, जो शिष्य को विभिन्न अर्थों (विषयों) का ज्ञान कराये, उसे आचार्य कहते हैं और आखिर में जो शिष्य की बुद्धि का विकास करे, उसे आचार्य कहते हैं। यजुर्वेद की एक ऋचा है जिसमें आचार्य का शिष्य को उपदेश है-

''चरित्रांस्ते शुन्धामि, वाचं ते शुन्धामि''

अर्थात् हे शिष्य! मैं तेरे चरित्र को पवित्र करता हूँ और इसके साथ तुम्हारी वाणी को भी पवित्र करता

हूँ। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी सत्यार्थ प्रकाश में लिखते हैं -

''मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद''

अर्थात् जिस (बच्चे) के माता, पिता और आचार्य (शिक्षक) धार्मिक, विद्वान् और चरित्रवान् हैं, वही सन्तान धार्मिक, विद्वान् और चरित्रवान बनती है। लेकिन बड़े अफसोस के साथ लिखना पड़ रहा है कि सन्तान के निर्माण के तीनों अंग (माता, पिता और शिक्षक) अब अपने दायित्व पर खरे नहीं उतर पा रहे। उनके सन्तानों के प्रति दायित्व का क्षेत्र संकुचित हो गया है, जिसका दुष्परिणाम है कि किशोर विद्यालय में होने वाली प्रार्थना के खिलाफ याचिका दायर करने का साहस कर बैठते हैं और छोटी मानसिकता के कुछ लोगों को इसमें कुछ गलत नजर नहीं आता, अपितु उन्हें प्रार्थना में हिन्दू-धर्म को बढ़ावा देने की भावना नजर आती है लेकिन एक महानुभाव सुशान्त सिन्हा हैं, उनकी इस सन्दर्भ में टिप्पणी द्रष्टव्य है, जिसमें वे लिखते हैं- ''केन्द्रीय विद्यालय छोड़िए, मैं तो मिशनरी स्कूल में पढ़ा हूँ और वहाँ भी प्रार्थना हिन्दी में होती थी। अगर हिन्दी में प्रार्थना से हिन्दुत्व फैलता, तो भारत कब का हिन्दू-राष्ट्र हो चुका होता।'' किसी प्रार्थना का केवल इसलिए विरोध करना कि उसकी प्रस्तुति हिन्दी में अथवा संस्कृत के श्लोकों में या वेदमन्त्रों के द्वारा हो रही है, समझ से बाहर है और प्रार्थना से किसी के मौलिक अधिकार का हनन होता है, यह दलील तो और भी अधिक हास्यास्पद और खेदजनक है। विद्यालयों में होने वाली प्रातःकालीन प्रार्थना को बन्द करने की वकालत जो भी राजनीतिक दल अथवा राजनेता कर रहे हैं यह ओछी राजनीतिक पैंतरेबाजी है और इस तरह की पैंतरेबाजी युवा पीढ़ी को दिशाहीन और संस्कारहीन बनाने का षड्यन्त्र है। जब युवा पीढ़ी ही दिशाहीन व संस्कारहीन हो जायेगी, तो संस्कारहीन व दिशाहीन युवा पीढ़ी से युक्त समाज व राष्ट्र की जो विकृत व भयावह तस्वीर होगी, उसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

प्रार्थना के प्रति किशोरों में जो नकारात्मकता पनप रही है, उसे सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए नियन्त्रित किया जाना चाहिए। अन्यथा इसके घातक परिणाम समाज को भुगतने पड़ेंगे। दूसरे जिस प्रकरण की मैं बात कर रहा था, वो दूसरा प्रसंग है- २० जनवरी शनिवार का, जिसमें एक बारहवीं के छात्र शिवांश ने अपने स्कूल की प्रिन्सिपल ऋतु छावड़ा पर पिता की लाइसेंसी रिवाल्वर से प्राणघातक हमला कर दिया। हमले के आरोपी ने अपनी करतूत को अंजाम देने के दो मुख्य कारण बताए, प्रथम कारण छोटी-छोटी बातों को लेकर प्रिन्सिपल उससे टोका-टोकी करती रहती थीं, दूसरा कारण प्रिन्सिपल ने उसके किसी प्रोजेक्ट पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया, जिसके कारण उसे उक्त कदम उठाना पड़ा और अपने उस कृत्य पर उसे कोई अफसोस भी नहीं है। उपरोक्त दुर्भाग्यपूर्ण घटना यमुनानगर के विवेकानन्द स्कूल की है। आधुनिकतावाद से सरोबार उपभोक्तावादी प्रवृत्ति ने किशोरों में जिस प्रकार के भावों का बीजारोपण किया है, उपरोक्त दोनों प्रकरण उपभोक्तावादी प्रवृत्ति द्वारा आरोपित संस्कारों की एक प्रकार से दुष्परिणति है। जिन बच्चों को अपने माता पिता का सान्निध्य मिलना चाहिए, जिन बच्चों को परिवार के अन्य बुजुर्गों जैसे दादा-दादी आदि का सान्निध्य मिलना चाहिए। जिन बच्चों को अपने गुरुओं का सान्निध्य मिलना चाहिए, जिन बच्चों को अपने गौरवपूर्ण इतिहास के महापुरुषों, क्रान्तिकारियों, योगियों, सन्तों, साधकों और मनीषियों का सान्निध्य मिलना चाहिए और जिन बच्चों को अपनी पावन सांस्कृतिक विरासत का सान्निध्य मिलना चाहिए, उन बच्चों को आज यदि सान्निध्य मिल रहा है अश्लील गानों का, सान्निध्य मिल रहा है अश्लील फिल्मों का, सान्निध्य मिल रहा है मांस-मदिरा का, सान्निध्य मिल रहा है शराब, सुल्फा, गांजा, चरस, अफीम, स्मैक आदि के नशों का, सान्निध्य मिल रहा है अश्लील साहित्य के अध्ययन का, सान्निध्य मिल रहा है भोग विलास का और सान्निध्य मिल रहा है केबल टीवी,

मोबाइल, इन्टरनेट, व्हाटसप, फेसबुक आदि का जिन पर क्या बच्चे, क्या किशोर, क्या युवा और क्या बुजुर्ग सबके सब उपरोक्त साधनों की दल-दल में फंसते जा रहे हैं और उसका दुष्परिणाम बच्चों द्वारा अपराधी गतिविधियों को अपने जीवन का हिस्सा बनाना। मैं कई बार सोचता हूँ कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने, स्वामी श्रद्धानन्द ने, पं० लेखराम ने, वीर हकीकत राय ने, नेताजी सुभाषचन्द्र ने, चन्द्रशेखर आजाद ने, पं० राम प्रसाद बिस्मिल ने तथा वीर ऊधम सिंह जैसे धर्मवीरों और युद्धवीरों ने जिस धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए अपने जीवन का बलिदान किया था आखिर वो धर्म कौन सा था और कौन सी वो संस्कृति थी? क्योंकि हकीकत राय ने अपनी चोटी की रक्षा के लिए और अपने धर्म की रक्षा के लिए अपने जीवन का बलिदान कर दिया। धर्म, संस्कृति की रक्षा के लिए तथा देश की स्वतन्त्रता के लिए महर्षि स्वामी दयानन्द जी अनेक यातनाओं से संघर्ष करते हुए तथा विषपान करते हुए अपने जीवन को आहूत कर गये, धर्म संस्कृति की रक्षा और स्थापना के लिए पं० लेखराम धर्मान्ध के द्वारा शहीद कर दिए गये, स्वामी श्रद्धानन्द धर्म की रक्षा हेतु एक मतान्ध की गोली का शिकार हो गये। चन्द्रशेखर आजाद ने भी राष्ट्र की आजादी के लिए गैरों से जूझते-जूझते स्वयं अपनी जीवनलीला समाप्त कर ली। रामप्रसाद बिस्मिल और शहीद उधमसिंह देश की आजादी के लिए हंसते- हंसते फांसी के फन्दे पर झूल गए। क्या इसलिए कि हमारे बलिदान के कारण मिली आजादी के बाद इस देश का हर नागरिक स्वतन्त्रता को अपने अपने ढंग से परिभाषित करेगा? क्या इसलिए गैरों की यातनाओं को हंसते-हंसते सहन किया था कि हमारे बाद स्वतन्त्र भारत में विद्यालयों में होने वाली प्रार्थना पर अप्रत्याशित बहस छिड़ेगी? नौ जनवरी और २० जनवरी के प्रकरणों से माता-पिता को, गुरुओं को, केन्द्र और राज्य सरकारों को एक सबक सीखना चाहिए, वो यह कि जो किशोर प्रार्थना को अपने अधिकार का हनन मान रहे हैं, उन्हें समर्थन देने की अपेक्षा हम उन्हें जीवन में प्रार्थना का महत्व समझाएं और उन्हें नास्तिकता की दल-दल में फंसने से बचाएं। प्रार्थना को विवादों में घसीटना, उस पर राजनीति करना स्वस्थ व सभ्य समाज के लिए अच्छा संकेत नहीं है। किशोरों में बढ़ती अपराध की प्रवृत्ति समाज को और राष्ट्र को हिंसा और गृह-युद्ध की भट्टी में झोंक देगी। हमारी शिक्षाप्रणाली जो कि केवल और रोजगारोन्मुखी बनती जा रही है या बनाई जा रही है, उसे समाज व राष्ट्र के हितों को ध्यान में रखते हुए चारित्रिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकासोन्मुखी बनाना होगा। हमें अपनी शिक्षाप्रणाली को यूरोपीय और अमेरिकी संस्कृति के प्रभाव से अविलम्ब मुक्त कर उसे भारतीय सांस्कतिक सांचे में ढालना होगा, नहीं तो नौ जनवरी और बीस जनवरी के दुःखद और दुर्भाग्यपूर्ण प्रसंगों में और अधिक वृद्धि होगी। **संदीप्ते भवने तु कूप खननं प्रत्युद्यमः कीदृशः** अर्थात् भवन के जल जाने के बाद यदि कूप (कुआं) खोदा या खोदने का पुरुषार्थ किया, तो क्या लाभ हुआ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

❑❑

पृष्ठ २ का शेष

इसमें करीब आधे मिनट के लिए रिकार्ड हो जाती है। अर्थात् मन से छनकर जो ग्रहण होता है, वह इस स्मृति में आ जाता है। यही नहीं, इसमें एक से अधिक ज्ञान रहते हैं। इनकी संख्या ५ से ६ पाई गई है। इसलिए किसी सूची को तुरन्त याद करने को कहा जाए, तो व्यक्ति ५-६ पदार्थ ही बता पायेगा। यही वह स्मृति भी है, जिसमें दीर्घकालिक स्मृति (आगे वर्णित) से भी ज्ञान निकाल के लाए जाते हैं- **निश्चय** अर्थात् पूर्व ज्ञान के आधार पर इस समय प्राप्त होने वाले सिग्नल को समझने के लिए। तभी ज्ञान का अर्थ निकलता है। जैसे- हमने सामने खड़े व्यक्ति को देखा। जल्दी से हमने उसके चेहरे के कुछ अंश नोट कर लिए। ये इस अ.स्मृ. में स्थित हो गए। अब इनके आधार पर दी.स्मृ. से खोज

करके, हम उस व्यक्ति का सारा ज्ञान निकालते हैं। इससे हमें व्यक्ति की पहचान हो जाती है- उसका नाम, सम्बन्ध आदि भी अ.स्मृ. में आ जाता है और हम उस व्यक्ति का नाम से अभिवादन करते हैं। फिर भी, निश्चय करने के लिए, ऐसा प्रतीत होता २-३ वस्तुएं एक बार में उपस्थित होती हैं, अन्यों को इस अ.स्मृ. में भी खोजने में हल्का-सा समय जाता है, जैसे कि ७ वस्तुओं की सूची में से चौथी याद करने के लिए हम पहली, दूसरी, तीसरी याद करके ही चौथी पर पहुँचेंगे। इसी प्रकार किसी भी वस्तु को समझने में सर्वत्र समझें। यह संगणक की RAM के तुल्य होती है। हमारे दर्शनों में इस स्मृति को निश्चयात्मक बुद्धि का अंश माना गया है। बार-बार अभ्यास करने से या कृत्रिम सम्बन्ध जोड़ने से, इस स्मृति को थोड़ा लम्बा किया जा सकता है, और दीर्घकालिक भी बनाया जा सकता है, जैसा कि हम क्रमशः रटने और कविता (छन्दोबद्ध शब्दों) में देखते हैं

३) दीर्घकालिक स्मृति (लौंग-टर्म मैमोरी)-

इस स्मृति में जितना चाहो, उतना समा जाता है, और जीवन-भर के लिए- कठिनाई है, तो केवल उसको याद करने में। ऐसा पाया गया है, जो भी विस्मरित होता है, वह केवल स्मृति से निकाल न पाने के कारण होता है और कई अवस्थाओं में विस्मृत बातें भी याद दिलाई जा सकती हैं। क्योंकि- इस स्मृति का कोश इतना बड़ा होता है, इसलिए इसको खोजने के लिए चित्त कई उपायों का प्रयोग करता है। ये स्मृति तीन प्रकार की पाई गई है-

क) प्रक्रियात्मक (Procedural)-

इसमें हम किसी क्रिया को करने के प्रकार को याद रखते हैं, जैसे- चलने में पैरों को कैसे ऊपर नीचे और आगे रखा जाए, साइकिल चलाने का तरीका, आदि, आदि। जितना हम उस क्रिया का प्रयोग करेंगे, उतना यह स्मृति कठिनाई से विस्मृत होगी और बहुत वर्षों के अन्तराल भी हम पुनः क्रिया पहले के समान कर लेते हैं, जैसे कि साइकिल चलाने के बारे में प्रसिद्ध है कि एक बार सीख लिया, तो फिर जीवन-भर कोई नहीं भूलता।

ख) शब्दार्थ (Semantic)-

शब्दों, मुहावरों, आदि के अर्थ हम चित्त के एक और स्थान में रखते हैं। किसी शब्द के प्रयोग होने पर या बोलने में, हम इस भाग से अर्थ को निकालकर ग्रहण करते हैं।

ग) अनुभवात्मक (Episodic)-

इसमें जीवन के अनुभव स्थान, समय और सुख-दुःख आदि मानसिक विकारों से जुड़े होते हैं। जैसे- कोई गाना सुनकर हमें उस गीत से जुड़ा हमारा कोई प्रिय अनुभव, चलचित्र के समान, हमारी आँखों के सामने आ जाता है।

इन रक्षण-प्रकारों से सम्बन्धित ही इनको स्मृति से बाहर निकालने का प्रकार होता है। ऐसा पाया गया कि जहाँ पूर्व की दो स्मृतियाँ इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान का चित्र-सा बना के रखता है, दी.स्मृ. में मानसिक विकार के साथ चित्र होता है। इन विकारों के आधार पर ये स्मृति में निबद्ध होती हैं, और इन्हीं सम्बन्धों के द्वारा ये निकाली जाती हैं और इसी कारण से कुछ सम्बद्ध बातें हमें गलत भी याद हो सकती हैं। और जितना हम किसी स्मृति का प्रयोग करेंगे, वह उतनी शीघ्र निकल आयेगी, जैसे भाषा का प्रयोग; और जितना कम प्रयोग करेंगे, उतना वह कठिनता से याद आयेगी, जैसे बचपन की यादें। न प्रयोग करते-करते, एक समय ऐसा आ जायेगा, जब हम उसे 'भूल' जायेंगे। फिर उसे याद करने के लिए विशेष तरीकों का प्रयोग करना पड़ता है, जिनमें से कोई उत्तेजनात्मक घटना, हिप्नोसिस्, विद्युत्, आदि कुछ हैं।

जहाँ पाश्चात्य पद्धति में याद करने के प्रकार- स्मरण के निमित्त- और अधिक नहीं खोजे गए हैं, प्राचीन भारतीय दर्शन न्याय में इनको २७ भागों में विभक्त किया गया है-

प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्य-परिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्य-विरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभया-र्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः।।

न्यायदर्शन ३/२/४३।।

क्योंकि स्मरण का निमित्त स्मृति में कैसे कोई ज्ञान डाला गया है, उससे सम्बद्ध है, इसलिए इस सूची में दोनों ही लक्षित हैं।

१) प्रणिधान- स्मरण करने की इच्छा से स्मृति को खोजना, जैसे कि परीक्षा देते हुए विद्यार्थी करता है, या किसी के नाम याद करने के लिए हम सभी करते हैं।

२) निबन्ध- सम्बन्धित वस्तु द्वारा याद करना, जैसे ऋग्वेद को याद करते ही, यजु, साम और अथर्व भी अनायास याद आ जाते हैं। इसके लिए कृत्रिम सम्बन्ध भी स्थापित किया जा सकता है, जैसे कहानी में गूंथ लेना या श्लोक में गढ़ देना। हमारे पूर्वज इस दूसरे उपाय को भली प्रकार जानते थे, इसीलिए संस्कृति में प्रायः सभी सूचियों के लिए श्लोक बने हुए हैं। छन्दोबद्ध शब्द या कहानियाँ हम अधिक सरलता से स्मृति में रख लेते हैं।

३) अभ्यास- जैसे हमने ऊपर भी देखा, बार-बार स्मरण करने से, तथ्य स्मृति में बैठ जाता है और आसानी से याद आता है। जिसे प्राचीन ऋषियों ने **'दृढ़ संस्कार'** कहा है, वह आज की भाषा में 'reinforced neural connection' कहा जायेगा, अर्थात् मस्तिष्क की ज्ञान-कोषिकाओं के आपसी सम्बन्धों को प्रगाढ़ करना। यथा- पुनः- पुनः विज्ञापन सुनने से उसकी एक पंक्ति सुनकर बाकी पक्तियाँ अथवा विज्ञापित वस्तु का याद आ जाना।

४) लिङ्ग- वस्तु के केवल चिह्न को देखकर उस वस्तु का स्मरण हो जाना, जैसे किसी के बालों या फोटो को देखकर उसको पहचानना।

५) लक्षण- किसी कृत्रिम चिह्न से परिलक्षित होना, जैसे वस्त्रों से किसी को पहचानना।

६) सादृश्य- समानता से पहचानना, जैसे- किसी के समान डील-डौल से किसी अन्य की याद आना।

७) परिग्रह- किसी सिद्धान्त आदि को मान लेने पर, उसका स्मरण होना, जैसे वस्तु को छूने पर अणु का स्मरण होना।

८) आश्रय- आश्रय/स्वामी से आश्रित का स्मरण, जैसे नेता से राष्ट्र का।

९) आश्रित- आश्रित से आश्रय/स्वामी का, जैसे मधुमक्खी से छत्ते का।

१०) सम्बन्ध- वैसे तो अधिकतम स्मृति के निमित्त स्मृति से सम्बन्धित ही होते हैं, परन्तु उनकी गणना करके, अब शेष सभी सम्बन्ध यहाँ गिने जा सकते हैं, जैसे पिता-पुत्र का सम्बन्ध, मित्र से विद्यालय का सम्बन्ध, आदि।

११) आनन्तर्य- किसी नियत क्रम से वस्तुओं का याद रखना, जैसे पूर्व से पश्चिम का स्मरण होना।

१२) वियोग- किसी से वियोग होने पर उसका स्मरण होना, जैसे- किसी बन्धु का।

१३) एककार्य- समान कार्य करने से कुछ याद आना, जैसे- कलक्टर से मिलने पर किसी कलक्टर मित्र की याद आना।

१४) विरोध- विरोधी वस्तु की याद आना, जैसे- ट्रम्प को देखकर किम की याद आना।

१५) अतिशय- अधिकता से कोई गुण होने के कारण कुछ याद आना, जैसे- मीठे से मधु याद आना अथवा दौड़ने से उसेन बोल्ट।

१६) प्राप्ति- किसी से कुछ प्राप्त होने से, वस्तु से उस व्यक्ति अथवा व्यक्ति से वस्तु का याद आना, जैसे- उपहार से देने वाले की याद आना।

१७) व्यवधान- किसी अवरोध से अवरुद्ध वस्तु की याद आना या उसका उल्टा, जैसे- नदी से बाँध की याद आना।

१८) सुख- वस्तु से सुख या सुख से वस्तु का याद आना, जैसे छोटी पुत्री के सुख से बड़ी पुत्री की याद आना।

१९) दुःख- सुख के समान, दुःख से सम्बद्ध।

२०) इच्छा- यह सुख से ही सम्बद्ध है- इच्छित पदार्थ को याद करना।

२१) द्वेष- यह दुःख से सम्बद्ध है- अनिच्छित पदार्थ को याद करना।

२२) भय- वस्तु को देखकर भय याद आना अथवा भय से वस्तु को याद करना। भय दुःख का ही एक रूप है।

२३) अर्थित्व- किसी वस्तु की आवश्यकता से उसे याद करना, यथा ठण्ड में ऊनी कपड़े को याद करना। यह सुख से सम्बद्ध है।

इससे शब्दों का अर्थ स्मरण करना ग्रहण होना चाहिए, अर्थात् अर्थ से शब्द और शब्द से अर्थ की स्मृति, ऐसी मेरी मान्यता है, क्योंकि यह अन्यत्र कहीं नहीं आया है और 'आवश्यकता' का परम्परागत अर्थ जो मैंने ऊपर ग्रहण किया है, वह 'इच्छा' के अतिशय निकट होने से पुनरुक्ति की श्रेणी में आ जाएगा।

२४) क्रिया- किसी क्रिया से अन्य क्रिया अथवा करने वाले की याद आना या इसका उल्टा। यथा चलते समय पैर कैसे आगे बढ़ाने हैं, वह याद रहना।

२५) राग- अतिशय इच्छित पदार्थ का चिन्तन/स्मरण। यह सुख से सम्बद्ध है।

२६) धर्म- कुछ करते हुए, उस विषय में धर्म याद आना, अर्थात् संस्कार। यथा- कुछ बताते हुए याद रखना कि सत्य बोलना है।

२७) अधर्म- धर्म का उल्टा- झूठ बोलते हुए सत्य-धर्म याद कर के सकुचाना।

पाश्चात्य और भारतीय व्याख्याओं में पुनः सोच में भेद स्पष्ट दिखाई पड़ता है। तथापि उसमें समानताएं होना तो आवश्यक ही है। सो, प्रक्रियात्मक ज्ञान 'क्रिया' से स्मरण किया जाता है, शब्दात्मक ज्ञान सम्भवतः 'अर्थित्व' से और अनुभवात्मक ज्ञान, 'प्रणिधान', 'निबन्ध', 'अभ्यास', 'लिङ्ग', 'लक्षण' और 'सादृश्य' को छोड़कर, अन्य सभी से। 'प्रणिधान' को रीकॉल (recall) कहा जाता है और 'निबन्ध' को chunking अथवा association और 'अभ्यास' को repetition या learning by rote। सभी प्रकार की पहचान करने को recognition कहा जाता है, जो कि ऊपर मुख्यतया लिङ्ग, लक्षण और सादृश्य के अन्तर्गत आयेंगे। अनुभवात्मक ज्ञान में मुख्य रूप से वस्तुओं के बीच सम्बन्ध (association) स्थापित किया जाता है, जैसे- परिग्रह, आश्रय-आश्रित, आनन्तर्य, आदि, और अनुभूतियाँ, जैसे- सुख-दुःख, राग-इच्छा-द्वेष, वियोग, आदि।

गहराई से देखें, तो प्रक्रियात्मक ज्ञान भी क्रियाओं का *सम्बन्ध* है और शब्दात्मक शब्द-अर्थ का सम्बन्ध। इसलिए हम कह सकते हैं कि स्मृति में रखने का मुख्य साधन *सम्बन्ध* है। इस साधन की स्वामिनी बुद्धि है। अनुभव करते समय, वह कुछ सम्बन्ध जोड़ देती है और स्मृति में डालते समय उन सम्बन्धों में से कुछ सम्बन्ध भी चले जाते हैं। उनके अनुसार ही वे स्मृति में व्यवस्थित किए जाते हैं, जैसे कि पुस्तकालय में पुस्तक विषय, लेखक, शीर्षक, आदि कई सम्बन्धों के अनुसार व्यवस्थित की जाती हैं।

पतञ्जलि के योगदर्शन में इन्हीं सम्बन्धों को तोड़ने को **'स्मृतिपरिशुद्धि'** और **'अर्थमात्रनिर्भासा'** (योगदर्शन १/४३) कहा गया है। उस शुद्धि के साथ-साथ सुख-दुःख रूपी सारे संस्कार जो हम अनुभूति के अनुसार जोड़ देते हैं, वे भी जाते रहते हैं। इस प्रकार योगी सुख-दुःख के परे चला जाता है।

भारतीय अध्यात्म में सदा से अन्तःकरण को जानना आवश्यक माना गया है। योगदर्शन, न्यायदर्शन, सांख्य, आदि ग्रन्थों ने इस विषय का विवेचन भी प्रस्तुत किया है। **आजकल हमारी सोच कुछ पाश्चात्य संशोधन से प्रभावित है। इसलिए हम भारतीय ज्ञान-विज्ञान को भूलते जा रहे हैं।** मेरे अनुसार, दोनों पद्धतियों का समन्वय करने से हम अपने ज्ञान की निधि बहुत बढ़ा सकते हैं। यह इसलिए भी आवश्यक है कि प्राचीन ग्रन्थ सूक्ष्मरूप में ही प्राप्त हैं। उनकी विस्तृत व्याख्याएं अधिकतर बहुत काल के बाद की उपलब्ध हैं। इस कारण से कई स्थानों पर वे लेखक के अभिप्राय को पूर्णतया समझाने और व्यक्त करने में सक्षम नहीं हो पाई हैं। इसलिए वे सन्दिग्ध हैं। आधुनिक ज्ञान से समन्वय करके हम कुछ त्रुटियों को दूर कर सकते हैं और कुछ विषयों को विस्तृत रूप में समझ सकते हैं। दूसरी ओर, प्राचीन ज्ञान भी आधुनिक ज्ञान के दोष दूर कर सकता है, विषयों को नए प्रकार से समझने का प्रकार दे सकता है और विस्तृत ज्ञान उपलब्ध करा सकता है। इसलिए दोनों का समन्वय सर्वथा वाञ्छनीय है।

❑❑

आर्यों का संघर्ष व बलिदान (४)

(राजेशार्य आट्टा,मो0ः-०९९९१२९१३१८)

प्रिय पाठकवृन्द! ऋषि दयानन्द ने बड़ी नम्रता के साथ इस बात को लिखा है कि मेरा कोई नवीन कल्पना व मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है, उसको मानना- मनवाना और जो असत्य है, उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है। ब्रह्मा से लेकर जैमिनि ऋषि पर्यन्त की मान्यता की पुर्नस्थापना करने हेतु ऋषि दयानन्द ने प्राचीन परम्पराओं के विकृत स्वरूप को सुधारने, नयी हानिकारक परम्पराओं को मिटाने व वैदिक ग्रन्थों पर पड़ी प्रक्षेप (मिलावट) की धूल को उड़ाने का भरसक प्रयास किया। बस इसी से परम्परा के आदी हो चुके स्वार्थी लोगों ने इसे नया मत कहकर ऋषि दयानन्द का घोर विरोध किया। सत्य के सूर्य को चमकने से रोकने के लिए मिथ्यावादी बादल सब ओर से आकर इकट्ठे हो गये। स्मरण रहे, यह अतीत (इतिहास) है। अतीत का अवलोकन इसलिए किया जाता है कि उसके प्रेरक प्रसंगों से हम प्रेरणा लें और गलतियों की पुनरावृत्ति से बचें। अतीत के किसी अनुचित व्यवहार के कारण आज वर्तमान के किसी व्यक्ति से घृणा या द्वेष करना सज्जनों का व्यवहार नहीं है। ऋषि के शिष्यों ने भी अपने आचार्य के पद-चिह्नों पर चलते हुए अपने-परायों का जो विरोध झेला, उसकी कुछ झलक पिछले लेखों में हम देख चुके हैं। ऋषियों के सद्ज्ञान व स्वस्थ परम्पराओं को हम तक पहुँचाने वाले अपने आर्य पूर्वजों के प्रति कृतज्ञ होने के लिए उसी श्रृंखला को आगे बढ़ाते हैं-

वैसे तो इतिहास की पुस्तकों में बच्चे पढ़ते हैं कि राजा राम मोहन राय ने १८२९ ई० में कानून बनवाकर सती प्रथा पर रोक लगवा दी थी और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने १८५६ ई० में विधवा-विवाह का कानून बनवा दिया था। इसके लिए ये महापुरुष धन्यवाद के पात्र हैं, पर इतने से ही ये कुप्रथाएँ समाप्त नहीं हो गई थीं। दार्शनिक विद्वान् पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय जी ने अपनी जीवनी में लिखा है कि १९०७ ई० में मेरे चाचा का एक लड़का ११ वर्ष की विधवा छोड़कर मर गया। उसी की एक बहन ११-१२ वर्ष की आयु में विधवा हो गई। मैंने चाचा-चाची को इनके पुनर्विवाह करने के लिए कहा, तो वे क्रोधित हो गए। रिश्तेदारियों में भी सबने विधवा के पूर्वजन्म के कर्मों की बात कहकर पल्ला झाड़ लिया। तब मैंने अपने छोटे भाई (२० वर्ष से अधिक) का विवाह किसी बाल-विधवा से करने की ठानी। माता तो पहले ही मान गई पत्नी का साथ मुझे सदा मिलता रहा। किसी सम्बन्धी की १४-१५ वर्षीय बाल विधवा के पिता को मनाया। लड़की की मौन स्वीकृति कलादेवी (पत्नी) ने ले ली।

मैंने घर आकर माता, भाई व चाचा को विवाह के लिए राजी किया। मई की गर्मी में एक सप्ताह की दौड़- धूप के बाद दस-बारह आर्य समाजी साथी बारात में जाने के लिए तैयार हुए। माता-पिता और लड़की के राजी होने पर भी कई डर थे- किसी के बहकाने से माता-पिता समय पर मुकर न जायें। गांव के विरोधियों का डर; कहीं माता-पिता बाल-विधवा की छोटी अविवाहित बहन का विवाह न कर दें। इनका निराकरण करने के लिए किसी को कोई सूचना नहीं दी और कलादेवी जी ने एक सप्ताह भर वधू का घर न छोड़ा। गाँव के कुछ प्रभावशाली क्षत्रिय लड़की के पिता के मित्र थे। जैसे-तैसे विवाह हो गया। हम बहू को लेकर गाँव में आ गये। समस्त गाँव में सनसनी फैल गई। हमारे चाचा ने गाँव में दावत दी। पहले तो लोगों ने विरोध किया, किन्तु अन्त में सब सम्मिलित हो गये।

बिरादरी वालों ने हमारे बहिष्कार के लिए एटा में

एक बृहद सम्मेलन बुलाया। एटा में इतनी बड़ी सभा (कायस्थों की) कभी नहीं हुई थी, परन्तु इसने रूप धारण कर लिया सनातन धर्म और आर्यसमाज के युद्ध का। सनातन धर्म सभा की ओर से मुरादाबाद के पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र थे और आर्यसमाज की ओर से पं० अखिलानन्द व इन्द्र वर्मा। सभा प्रधान कुंवर श्योराज सिंह राजा साहेब के समय पर न पहुँचने से आर्यवीरों ने सत्यव्रत जी के विधवा-पुनर्विवाह को वीरतापूर्ण धर्म का कार्य कह कर बधाई दी। सभा में खलबली मच गई। लोग राजा साहब के पास दौड़ गये। राजा साहेब आये। सभा दुबारा आरम्भ हुई और तीन दिन तक होती रही। आर्य समाज की ओर से शास्त्रार्थ के चैलेंज दिये गये। अन्त में सभा यह निश्चय करके समाप्त हुई कि छः मास के भीतर जो (विवाह में सम्मिलित) क्षमा माँग ले और सत्यव्रत से सम्बन्ध विच्छेद कर ले, उसे क्षमा कर दिया जाये। केवल एक (मेरे सगे बहनोई) ने क्षमा माँगी। शेष आर्यवीर विधवा-विवाह के समर्थन में डटे रहे व प्रचार करते रहे। (प्रा० राजेन्द्र जिज्ञासु जी ने लिखा है कि सभा प्रधान राजा श्योराज सिंह के भाई राव महाराज सिंह जी थे)।

सन् १९१४ ई० में यह अवस्था तो तब थी, जब आर्य समाज वर्षों से विधवाओं की दुर्दशा पर मार्मिक लेख लिख रहा था; पुस्तकें छाप रहा था व शास्त्रार्थ कर रहा था। साथ ही विधवा के साथ विवाह करने वाले स्वयं इसके लिए प्रयासरत थे। पं० गंगाप्रसाद उपाध्यायजी तो किसी शुद्ध हुई मुसलमान लड़की से विवाह के पक्ष में थे। यह तो उनकी माता जी ने ही कहा था कि समाज-सुधार के लिए अपनी बिरादरी की बाल-विधवा से विवाह करना ही ठीक है। उत्साही आर्यवीरों के कारण उपाध्याय जी कुलश्रेष्ठ परिवारों में विधवा-पुनर्विवाह की प्रथा चलाने में कुछ सफल हुए।

श्री धर्मपाल गुप्ता ने लिखा है कि १९२२-२३ के लगभग जिला अलवर (राजस्थान) के बासकृपालनगर आर्यसमाज के मंत्री श्री गणेशलील की पुत्री अलवर ब्याही थी। उसके पति का अचानक देहान्त हो गया। मंत्री जी पर तो मानो दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। १२-१३ वर्ष की अवस्था में लड़की का विधवा हो जाना उन्हें सदैव कचोटता रहता था। उन्होंने बिना किसी को बताये योग्य वर की तलाश शुरू कर दी और अलवर में ही महावर वैश्य परिवार के श्री छोटे लाल को ढूँढकर पुत्री का पुनर्विवाह करने का दृढ़ निश्चय किया। तब अलवर रियासत में पक्के पौराणिक व आर्य समाज-द्वेषी महाराज जयसिंह का राज्य था। आर्य समाजी उनकी विचार संकीर्णता के अनेक बार शिकार हो चुके थे व सजायें भोग चुके थे।

पुत्री का पुनर्विवाह निश्चित कर यह विचार मंत्री गणेशीलाल ने आर्यसमाज बासकृपालनगर के अधिकारियों व सदस्यों के सम्मुख रखा, जिसका सभी ने समर्थन किया। अलवर रियासत का यह पहला विधवा-विवाह होना था, इसकी सूचना अलवर नरेश के दरबार में पहुँच गई। आर्य-द्वेषी राजा ने तुरन्त कुछ सिपाही बासकृपालनगर भेजकर गणेशीलाल को कहलवाया कि या तो पुनर्विवाह न करने का वचन दे या ४८ घण्टे के अन्दर-अन्दर रियासत छोड़ दे। सम्मन के रूप में आए आदेश को गणेशीलाल ने सभी आर्यसमाजियों के सम्मुख रखा। किसी ने समर्थन दिया तो किसी ने पुनर्विवाह को कुछ समय के लिए टालने का सुझाव दिया। सबकी सुनकर ऋषि दयान्द के अनन्य भक्त ने कहा कि कोई मेरा साथ दे या न दे, मैंने अपनी पुत्री के पुनर्विवाह का दृढ़ निश्चय कर लिया है। महाराज के आदेश से बड़ा मेरे महर्षि का आदेश है, जिसका मैं शिष्य हूँ। मेरे सामने मेरी पुत्री के जीवन का प्रश्न है, जो १२-१३ वर्ष की किशोरावस्था में अपने जीवन का अवसान देख रही है। कोई भाइबन्द कोई रिश्तेदार साथ दे या न दे, पुनर्विवाह होकर रहेगा।

आर्यवीर की सिंह गर्जना सुनकर सभी आर्यमाजियों ने पूर्ण सहयोग देने का वचन दिया। निश्चय हुआ कि विवाह दिल्ली के आर्यसमाज सीताराम बाजार में किया जाए। आठ-दस बैलगाड़ियाँ और बहलियाँ रातों-रात जोड़ दी गईं तथा गणेशीलाल का परिवार व १०-१२ आर्यसमाजी

उनके साथ हरसौली रेलवे स्टेशन पहुँचे ताकि रात्रि की 'अजमेर पैसेंजर' से दिल्ली जा सकें। अगले दिन सुबह वे दिल्ली पहुँच गये। वर पक्ष वाले पहले ही दिल्ली आर्यसमाज सीताराम बाजार पहुँच चुके थे। उनकी व्यथा सुनने के बाद समाज के सभी अधिकारियों और सदस्यों ने उन्हें समाज के भवन में ठहराया; उनके विवाह आदि के कार्यों की पूरी व्यवस्था की व निश्चित समय पर वहीं विवाह सम्पन्न हुआ।

दूसरे दिन अलवर नरेश के प्यादे गणेशीलाल के घर पहुँचे, किन्तु घर खाली देखकर वापस लौट गये। विवाह के बाद गणेशीलाल व वर पक्ष के सदस्य ६ मास तक वहीं आर्यसमाज में रहे, क्योंकि महाराज के आदेश के कारण वे अपने घर नहीं जा सकते थे। महाराज जयसिंह तो यह आदेश देकर विदेश चले गये थे। वापस आने तक मामला ठण्डा पड़ चुका था। गणेशीलाल के शुभचिन्तक दरबारी द्वारा प्रार्थना करने पर महाराज ने अपना ६ मास पूर्व का आदेश वापस लिया। तब कहीं जाकर गणेशीलाल अपने परिवार व आर्यसमाजी साथियों के साथ अपने पैतृक गाँव बाककृपालनगर पुनः पहुँचे; जहाँ ग्रामवासियों की ओर से उनका हार्दिक स्वागत किया गया।

विधवा से पुनर्विवाह करने के कारण पुरानी लकीर पीटने वाले पौराणिकों ने आर्यसमाजियों का ही नहीं, उसमें सहयोगी रहे पशुओं तक का बहिष्कार कर दिया था। प्रा० राजेन्द्र जिज्ञासु जी ने लिखा है कि तलवण्डी साबो (बठिण्डा के पास) के एक आर्य युवक निगाहीराम ने पूजनीय स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी की प्रेरणा से एक बाल विधवा से विवाह करने की हिम्मत दिखाई, तो उस क्षेत्र के पौराणिकों ने वर-वधू का बहिष्कार करके जीना दूभर कर दिया। तब उस क्षेत्र में ऊँट का आवागमन होता था। आर्य लोग इन्हें ऊँट पर बिठाकर रामाँ मण्डी ले आये। यहाँ आर्यसमाज का सुदृढ़ संगठन होने के कारण पोंगापंथी वर-वधू को तंग नहीं कर सकते थे। अतः खीजकर उन्होंने नई व्यवस्था जारी की। सब सनातनियों को कहा गया कि जिस ऊँट पर आर्य लोग वर-वधू को लाये, उस 'आर्य समाजी ऊँट' का प्रचण्ड बहिष्कार किया जाये।

ऊँट वाले की आजीविका उसी ऊँट से चलती थी। वह घबरा गया। यह समाचार भी सब ओर फैल गया। दूर-दूर से ग्रामीण 'आर्य समाजी ऊँट' के दर्शन करने आने लगे और उसे कुछ भेंट चढ़ाने लगे। इससे पौराणिकों की व्यवस्था ठुस (फेल) हो गई।

अर्थात् १९३० ई० के लगभग तक तो अंग्रेजों के १८५६ ई० में बनाये गए कानून (विधवा पुनर्विवाह) को मानने के लिए तो यहाँ के राजा भी तैयार नहीं थे, फिर सामान्य जनता की तो कौन कहे। मानव हितैषी आर्यसमाजियों द्वारा विधवा पुनर्विवाह के लिए जो कुछ प्रयास किया गया, सामान्य हिन्दू जनता ने तो अपनी मूर्खतावश उसमें भी बाधाएँ डालीं। फिर भी सत्य यही है कि आर्यसमाज के प्रयास से ही धीरे- धीरे यह प्रथा हिन्दूसमाज में आ गई और हिन्दुओं की बाल-विधवाएं जहाँ लुके-छिपे दुराचार से उत्पन्न पाप से बचीं; वेश्यालयों में जाने से बचीं, वहीं मुस्लिम-ईसाई बनकर हिन्दुओं के शत्रु पैदा करने से भी बचीं। आश्चर्य है कि इस अन्धे हिन्दूसमाज को अपना हित-अहित भी दिखाई नहीं देता था।

सोचिये, जो हिन्दूसमाज ७०-८० वर्षों से अंग्रेजों द्वारा कानून बना दिये जाने पर भी अपने ही अंग (विधवा बेटी) को पुनर्विवाह कर सुखी बनाने की उदारता नहीं दिखा पाया, वह अछूत मानने वालों को अपने मन्दिर में प्रवेश करने देने की अनुमति इतनी सरलता से कैसे दे देता। इतिहास बताता है कि आर्य- समाज ने दलितोद्धार का कार्य तब शुरू कर दिया था, जब डॉ० अम्बेडकर अपनी माँ की गोदी में खेल रहे थे। अपने दलितोद्धार के कारण आर्यसमाज हिन्दू पोंगापन्थियों के लिए 'अछूत' बन गया था। डॉ० अम्बेडकर यदि आर्यसमाज के साथ मिलकर इस कार्य को आगे बढ़ाते, तो सम्भव है परिस्थितियाँ कुछ जल्दी बदल जातीं क्योंकि

शेष पृष्ठ १५ पर

विश्व शान्ति का केवल एक ही मार्ग है - वैदिक धर्म

(खुशहालचन्द आर्य, गोविन्दराम आर्य एण्ड सन्स, कलकत्ता)

जैसे सत्य एक ही होता है, असत्य अनेकों हो सकते हैं। दो बिन्दुओं को मिलाने वाली रेखा केवल एक ही हो सकती है, टेढ़ी-मेढ़ी अनेकों हो सकती हैं। वैसे ही धर्म भी एक ही हो सकता है, बाकी मत, पंथ, सम्प्रदाय अनेकों हो सकते हैं। धर्म वह होता है, जो केवल मानव-मात्र ही नहीं बल्कि प्राणी-मात्र की भलाई व कल्याण चाहने वाला हो। किसी भी जीव के प्रति अन्याय, पक्षपात व अत्याचार न करता हो। सब प्राणियों का पिता केवल एक ईश्वर ही है, इसलिए जितने भी प्राणी हैं, वे भी ईश्वर के पुत्र व पुत्रियाँ हैं। पिता अपने सभी पुत्र व पुत्रियों को एक समान ही प्यार करता है, इसलिए जो धर्म ईश्वर-प्रदत्त होगा, वही धर्म सभी प्राणियों का हितकारी व कल्याणकारी होगा। वेद ईश्वर के द्वारा प्रदत्त ज्ञान है, इसलिए वैदिकधर्म यानि वेदों के अनुसार चलने वाला धर्म ही पूर्ण मानव-मात्र का धर्म हो सकता है। बाकी जितने भी धर्म के नाम से प्रचलित मत, पंथ, सम्प्रदाय हैं, वे सब किसी न किसी व्यक्ति विशेष द्वारा चलाए हुए हैं। मनुष्य एक अल्पज्ञ प्राणी है, वह चाहे कितना भी महान् क्यों न हो, उसके अल्पज्ञ होने के नाते कुछ न कुछ कमी व स्वार्थ जरूर-जरूर रहेगा। वह अपने ही मत वालों को अधिक पसन्द करेगा और दूसरों के मतवालों को कम पसन्द करेगा। यही भेद-भाव लड़ाई-झगड़े की जड़ है औ़र एक-दूसरे को अलग-थलग करती है और दुःख का कारण है। विश्व में जितने भी मत व पंथ हैं, वे सभी किसी न किसी व्यक्ति विशेष द्वारा चलाए हुए हैं। जैसे ईसाईमत ईशा ने चलाया था। मुस्लिममत मोहम्मद साहब ने चलाया था, पारसी- मत मूसा ने चलाया था, सिखमत गुरु नानक ने चलाया था, जैनमत महावीर स्वामी ने चलाया था और बौद्ध- मत महात्मा बुद्ध ने चलाया थ। इन मतों से विश्व का कल्याण कभी नहीं हो सकता इसलिए इन मतों को मानने से विश्व में सुख व शान्ति कभी स्थापित नहीं हो सकती। अब प्रश्न उठता है कि वैदिकधर्म से ही विश्व में सुख व शान्ति कैसे स्थापित हो सकती है? इसके निम्नलिखित मुख्य कारण हैं।

१.वैदिकधर्म सृष्टि के आदि में ईश्वर-प्रदत्त धर्म है :- मनुष्य में स्वाभाविक ज्ञान कम और नैमित्तिक ज्ञान अधिक/पशु-पक्षियों में स्वाभाविक ज्ञान अधिक और नैमित्तिक ज्ञान बहुत कम होता है। स्वाभाविक ज्ञान वह होता है, जो जीवन चलाने के लिए आवश्यक होता है, जैसे खाना-पीना, सोना, जागना, उठना-बैठना, रोना-हँसना तथा सन्तान पैदा करना आदि। इन कामों का फल नहीं मिलता कारण ये हर जीव के लिए करने जरूरी हैं। दूसरा ज्ञान है नैमित्तिक ज्ञान, यह सिखाने से सीखा जाता है। यह ज्ञान मनुष्य में अधिक है, इसीलिए मनुष्य सिखाने से सीखता है। बिना सीखे वह मूर्ख ही बना रहता है। इसीलिए ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में चार वेद जिनके नाम ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद हैं, यह चारों वेद चार ऋषियों- जिनके नाम अग्नि, वायु, आदित्य व अँगीरा थे, उनके हृदय में ईश्वर ने चारों वेदों का प्रकाश क्रमशः किया और लोगों को सुनाया। वैसे तो चारों वेदों का सन्देश चारों ऋषियों के मुख से सभी उपस्थित स्त्री व पुरुषों ने सुना पर ब्रह्म ऋषि ने उन चारों वेदों को कण्ठस्थ कर लिया और उसने अपने शिष्यों को तथा अन्य लोगों को सुनाया/और उन लोगों ने अपने पुत्रों व पौत्रों को सुनाया। इस प्रकार यह सुनाने और सुनने की परम्परा चालू हो गई। जब तक कागज, स्याही, दवात, कलम का आविष्कार नहीं हुआ और वेद पुस्तकों में लिखा नहीं गया, तब तक यह परम्परा चलती रही। पुस्तकों में लिखे जाने के बाद यह

परम्परा प्रायः समाप्त हो गई, पर दक्षिण में अभी तक भी चलती आ रही है। इसीलिए वेदों को श्रुति भी कहते हैं, जिसका तात्पर्य है सुन- सुन कर सीखना। ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिए यही ज्ञान दिया है कि मनुष्य को क्या काम करने चाहिए और क्या काम नहीं करने चाहिए। जिन कामों को करने से मनुष्य, धर्म, अर्थ, काम को धर्मानुसार यानि वेदानुसार करने से इनके फल मोक्ष को प्राप्त कर सकता है, जो मानव-मात्र का अनितम लक्ष्य है जिसके पाने के लिए ईश्वर जीव को मनुष्य योनि में भेजता है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि वैदिकधर्म ही एक ऐसा धर्म है, जिसके अनुसार चलने से मनुष्य अपने जीवन में स्वयं भी सुखी व प्रसन्न रह सकता है और दूसरों को भी सुखी व प्रसन्न रख सकता है। इसीलिए इसी धर्म को संसार में सुख व शान्ति स्थापित करने का आधार मानते हैं।

२. वैदिकधर्म ही प्राणी-मात्र से प्रेम रखने की बात कहता है और परस्पर प्रेम से रहने की बात सिखाता है। किसी से भी भेद-भाव रखना नहीं सिखाता। कारण वैदिकधर्म मानवमात्र का धर्म है। किसी एक जाति, देश या वर्ग का नहीं है। ईश्वर सबका पिता है और यह धर्म उस पिता के द्वारा ही चलाया हुआ है। हम सब उस परमपिता-परमात्मा के पुत्र व पुत्रियाँ हैं। पिता अपनी सन्तान का भला व कल्याण करना चाहता है इसीलिये ईश्वर ने हमारे कल्याण के लिए ही वेदों का प्रकाश चार ऋषियों के हृदय में किया। वेदों में इतिहास भी नहीं है कारण यह आदि ग्रन्थ है। इतिहास बाद में लिखा जाता है।

३. वेदों में न कोई कुछ घटा सकता है और न कोई कुछ बढ़ा सकता है। कारण यह पूर्ण ज्ञान है और पूर्ण ज्ञान ईश्वर द्वारा प्रदत्त है। बाकी हमारे धार्मिक ग्रन्थ रामायण, महाभारत, गीता, मनुस्मृति आदि में कथित ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ के लिए काफी मिलावट कर दी है परन्तु वेदों में ये स्वार्थी कथित ब्राह्मण कोई मिलावट नहीं कर पा रहे हैं कारण इनके सस्वर बोलने में चढ़ाव-उतराव इस किस्म से है, जिसके बोलने से मिलावट पकड़ी जाती है, इससे वे मिलावट नहीं कर पाते इसलिये वह ईश्वरीय ज्ञान आज भी हमारे पास ज्यों का त्यों है। इस अद्वितीयता से यह सिद्ध होता है कि यह वेद ज्ञान ईश्वर का है।

४. मानव-मात्र का धर्म वही हो सकता है, जो सृष्टि के आरम्भ से चला हो। बाद में चला हुआ धर्म, मानव-मात्र का नहीं हो सकता कारण उस धर्म के चलने से पहले भी कोई धर्म माना जाता होगा। बाद में किसी व्यक्ति द्वारा चलाया हुआ धर्म, धर्म न होकर कोई मत, पंथ व सम्प्रदाय ही है, जो कोई वर्ग विशेष द्वारा माना जाता है। इसलिए वैदिक धर्म जो सृष्टि के आरम्भ से चला हुआ है, वही मानव-मात्र का धर्म है, अन्य नहीं।

५. वेद किसी देशीय भाषा में नहीं, वेद संस्कृत भाषा में है, जो सब भाषाओं की जननी है और सृष्टि के आरम्भ की भाषा है। अन्य धर्मग्रन्थ किसी देशीय भाषा में हैं, इसलिए वह मानव-मात्र का धर्म नहीं हो सकता।

६. वेद, प्रकृति के अनुसार है, वेदों में प्रकृति के विरुद्ध कोई बात नहीं है। जैसे एक व्यक्ति इतना योगी, तपस्वी व पहुँचा हुआ संन्यासी है, जो एक समय में ही मुम्बई, कलकत्ता, मद्रास व दिल्ली दिखाई देता है। यह बात प्रकृति के विरुद्ध है। एक व्यक्ति एक समय में एक ही जगह दिखाई देगा। मनुष्यों द्वारा चलाए गये मत व पंथों में अपना चमत्कार दिखाने के लिए प्रकृति के विरुद्ध बातें बतलाते हैं। जैसे- ईसाई लोग कहते हैं कि ईशा की शरण में आ जाओ, तुम्हारे सब पाप घुल जायेंगे और मोक्ष के अधिकारी बन जायेंगे। मुस्लिम भाई कहते हैं कि मोहम्मद साहब ने चिटली अँगुली से चाँद के दो टुकड़े कर दिये। पौराणिक भाई इस मामले में सबसे आगे हैं। वे तो कहते हैं कि हनुमान जी ने बचपन में सूर्य को मुख में रख लिया, कुन्ती को कर्ण कान से हुआ था, भगवान कृष्ण ने

गोवर्धन पर्वत को चिटली ऊँगली से उठा लिया। यह सब काम प्रकृति के विरुद्ध हैं इसलिये यह सब असम्भव हैं। इसलिए यह सब अन्धविश्वास है। वैदिकधर्म इन सब बातों को नहीं मानता। वैदिकधर्म केवल उसी बात को मानता है, जो बुद्धि, तर्क व विज्ञानसम्मत है, जिसे हर व्यक्ति को मानना चाहिए और जो यथार्थ है।

❑❑

पृष्ठ १२ का शेष

सदियों से जड़ जमाए बैठी कुरीतियाँ किसी के फूँक मारने मात्र से उड़ने वाली नहीं हैं।

डॉ० साहब को जाति के अभिमानी हिन्दुओं की तरफ से कई बार अपमानित किया गया और २१ मार्च १९२७ को महाड़ के सार्वजनिक तालाब पर पानी पीने के लिए सत्याग्रह करने के कारण की गई दलितसमाज की पिटाई से तो वे बहुत दुःखी हुए। इसका दण्ड उन्होंने अपराध करने वालों को न देकर 'मनुस्मृति' को दे दिया। जबकि वे मनुस्मृति का शुद्ध रूप सत्यार्थ प्रकाश आदि आर्यसमाज के ग्रन्थों में देख सकते थे। पर ऐसा न करके उन्होंने २५ दिसम्बर १९२७ को महाड़ सत्याग्रह परिषद के अवसर पर मनुस्मृति को जला दिया। हमारे विचार से यह अपमान की ज्वाला में जले व्यक्ति द्वारा जल्दबाजी में उठाया गया कदम था और सम्भवतः इस भूल का निराकरण करने के लिए ही नासिक के कालाराम मन्दिर में प्रवेश करने के लिए उन्होंने लगातार ६ वर्ष (१९३० से १९३५ ई०) आन्दोलन किया। उच्च जाति के मद में अन्धे हुए हिन्दू इन्हें तथाकथित भगवान के दर्शन से स्वयं को पवित्र करने देने की उदारता भी नहीं दिखा सके और १३ अक्टूबर १९३५ को पुनः दलित वर्ग पर लाठियों से प्रहार किया। डॉ० अम्बेडकर इससे इतने व्यथित हुए कि उन्होंने हिन्दूधर्म त्यागने की ही घोषणा कर दी। यहाँ भी दण्ड दोषियों को न देकर हिन्दूधर्म को दिया गया। अर्थात् लगता है डॉ० साहब पुनः जल्दबाजी कर गये।

यद्यपि मन्दिरों में जाना, दलितों (हिन्दुओं) का अधिकार था और इसमें बाधा डालने वाले निश्चित रूप से अन्यायकारी व दण्ड के भागी थे, पर विचारणीय बात यह भी है कि डॉ० साहब ने मन्दिर में ही जाने का हठ क्यों किया? जबकि उसके विकल्प के रूप में आर्यसमाज के द्वार खुले पड़े थे, जहाँ उन्हें सम्मान भी मिलता और विद्या (संस्कृत) का अधिकार भी। शीघ्र ही हिन्दुओं द्वारा की गई (जानबूझकर) गलती का सुधार करने के लिए आर्यसमाज आगे आया। लाहौर के जात पात तोड़क मण्डल (भाई परमानन्द, गोकुलचन्द नारंग, सन्तराम बी.ए. आदि) ने अप्रैल १९३६ में होने वाले सम्मेलन के लिए डॉ० अम्बेडकर को अध्यक्ष बनाया। डॉ० साहब ने यह तो स्वीकार कर लिया पर अपने लिखित भाषण में वे बार-बार वेदशास्त्रों को डाइनामाइट से उड़ाने की बात करते रहे। गोकुलचन्द आदि के कहने पर भी वे यह वाक्य हटाने के लिए तैयार नहीं हुए अर्थात् सम्मेलन करवाने वालों की भावना को कोई महत्व नहीं दिया और अपनी सभी शर्तें मनवाने का हठ करते रहे। फलतः सम्मेलन नहीं हो सका और 'एक हिन्दू के रूप में' होने वाला उनका भाषण भी नहीं हो पाया।

सोचिये, यदि सामाजिक समरसता में बाधा डालने वाले पोंगापन्थी हिन्दुओं का हठ बुरा था, तो डॉ० अम्बेडकर का हठ कैसा था? सम्भवतः इसीलिए पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय जी ने लिखा- "श्री अम्बेडकर जी स्वभाव से हथेली पर सरसों जमाने वाले व्यक्तियों में से हैं। उनको मनचाही चीज़ तुरन्त मिले, अन्यथा वह दलपरिवर्तन कर देते हैं।" हाँ, इस बात के लिए डॉ. साहब धन्यवाद के पात्र हैं कि उन्होंने बौद्धमत की दीक्षा (२१ वर्ष) खूब सोच कर ली और वे मुस्लिम व इसाईयों द्वारा दिये गये लालच में अन्धे नहीं हुए। अन्त में उन्होंने भारत को कम से कम हानि पहुँचाने वाला मार्ग चुना। पर उनके अनुयायी विचार करें कि वे ईसाई बनकर आज किस मार्ग पर जा रहे हैं?

❑❑

अद्भुत भारतीय शिल्पकला के आदर्श ताजमहल का निर्माता कौन?

(आचार्य शंकर विद्यावाचस्पति, उदयपुर-राज0)

आजकल ताजमहल पर टीवी पर बहुत वाद-विवाद चलता देखा। तब मन में विचार आया कि इस विषय पर मैं अपने विचार रखूं। अतएव बुद्धिमानों के समक्ष अपने विचारों को रखने का अल्प प्रयास है। टी.वी. पर राजनीतिज्ञों एवं अन्य विद्वानों की वार्ता को सुन मुझे अफसोस होता है कि इनको ऐतिहासिक तथ्यों का अत्यल्प ज्ञान है। ये लोग राजनैतिक प्रतिष्ठा के आधार पर बुला लिये जाते हैं और लोगों का व्यर्थ समय बरबाद करते हैं। टी.वी. के एंकर भी अपनी चैनल का महत्व बढ़ाने में सफल हो जाते हैं। इस स्थिति में जनता के सामने पूर्ण सत्य नहीं आ पाता है। अतः मैंने अपने स्वाध्याय के आधार पर इस विषय में कुछ प्रकाश डालने का प्रयास कर रहा हूँ। जिससे जनता को सत्य का यथार्थ दिग्दर्शन हो सके।

ताजमहल शाहजहाँ या अन्य के द्वारा निर्माण किया गया। इस विषय में पुराने ऐतिहासिक तथ्य क्या हैं? यह विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

सबसे पहले चहताई तुर्की में जहीर ए दीन मोहम्मद बाबर संस्मरण भाग पृष्ठ .... में लिखा है कि मैंने गुरूवार १० मई १८२६ के मध्याह्नोत्तर आगरा में प्रवेश किया और सुलतान इब्राहिम लोधी के प्रासाद (महल) में निवास किया। फिर पृष्ठ २५१ पर लिखा कि ईद के कुछ ही दिन बाद हमने सुलतान इब्राहिम लोधी के महल में ११ जुलाई १५२६ को बड़े हाज में जो पत्थर की श्रृंखला से युक्त स्तम्भों से सुसज्जित है, उसके गुम्बद के नीचे विराट भोजन का आयोजन किया। बाबर १० मई १५२६ से २६ दिसम्बर १५३० तक इस प्रासाद में रहा था।

"इतिहासकार स्मिथ ने लिखा कि बाबर के संघर्षमय जीवन का अन्त इस आगरा स्थित उद्यान प्रासाद में शान्तिमय ढंग से हुआ।"

बाबर ताजमहल में रहा, इसकी पुष्टि उसकी पुत्री गुलबदन बेगम द्वारा लिखित हुमायूँनामा के अंग्रेजी अनुवादकर्ता दानेर दास बेवरीज लिखित हुमायूँ के इतिहास से भी होती है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि बाबर की मृत्यु २६ दिसम्बर १५३० को हुई थी। उसने (गुलबदन) लिखा कि हमारी बुआओं और माताओं को इस बहाने से बाहर भेज दिया गया कि चिकित्सक देखने आये हैं। सब उठ गये। वे सभी बेगमों और माताओं के बड़े भवन में ले गये। मृत्यु का समाचार गुप्त रखा गया।

२५ दिसम्बर १५३० को हुमायूँ सिंहासन पर बैठा। पृष्ठ ११० पर टिप्पणी में लिखा बाबर का शव ताजमहल से नदी के दूसरी ओर आराम बाग में ले जाया गया।

एक शिलालेख जो बरेश्वर शिलालेख के नाम से प्रसिद्ध है। जो लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित है। इस शिलालेख में संस्कृत भाषा में ३४ श्लोक उत्कीर्ण हैं।

प्रसादो वैष्णवस्तेन निर्मितोऽन्तर्वृहन्हरिः।
मूर्ध्नि स्पृशति यो नित्यं पद्मस्येव मध्यमम्।।

श्लोक २५।।

इस महल को राजा परमादिदेव वैष्णवधर्मावलम्बी ने निर्माण किया, जो महल के मध्य भाग में स्पर्श कर रहा है। अथवा यदि मूर्धा शब्द को सप्तमी की जगह तृतीया माने, तो वह राजा कमल के मध्य वर्तमान विष्णु की प्रतिमा को नित्य शिर झुकाकर प्रणाम करता था। क्योंकि ताजमहल की उपरी छत पर जो गुम्बज बना है, उसमें पहले चक्र में आठ बाण फिर दूसरे चक्र में १६ नाग फिर ३२ त्रिशूल तथा अन्तिम चक्र में ६४ कमल के चिन्ह हैं, जो इस्लामिक मान्यता के विरुद्ध है। ई. बी. हॉवेल के अनुसार कुरान के विरुद्ध हैं। कुरान का आदेश है कि स्वर्ग में या नीचे धरा पर उसकी अनुकृति नहीं बनाई जावे। इस परम्परा का निर्वाह मुसलमानों

द्वारा निर्मित मस्जिदों में भी दिखाई देता है। ताजमहल के चप्पे- चप्पे में चित्र उत्कीर्ण हैं।

अकारयच्च स्फूटिकावदातमसाविदं मन्दिसमिन्दु मौलेः। न जातु अस्मिन्नवसनसदेवः कैलाश वासाय चकार चेत।। श्लोक २६।।

इस प्रकार उसने इन्दुमोलि भगवान् शिव का स्फटिक का मन्दिर बनवाया, जिसमें निवास करने के कारण शिवजी का मन कैलाश पर्वत पर जाने की इच्छा नहीं करता था।

आश्विन शुक्ला पंचम्यां वासरे शितुः।।

श्लोक ३४।।

इस श्लोक के अनुसार यह शिला लेख आश्विन शुक्ला पंचमी विक्रम संवत ११४५ में लिखा गया। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पी.एन.ओक के अनुसार उपरलिखित उद्धरण डी.जी.काले की पुस्तक खर्जुरवाहक (वर्तमान खजुराह) तथा एविग्राफिक इन्डिका के भाग १ पृष्ठ संख्या २७०-२७४ पर भी वर्णित है।

डा. जी. काले को यह शिलालेख आगरा के बटेश्वर गाँव से प्राप्त हुआ था। इस शिलालेख में चन्द्रवंशी राजवंश के मूल और उसके शासकों का वर्णन है। इस शिलालेख में जिन भव्य स्फटिक भवनों का उल्लेख है। वह वर्तमान में आगरा के अतिरिक्त कहीं भी नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस मन्दिर महल को मुगल शासकों द्वारा हथिया लेने के बाद इस शिलालेख को उखाड़कर इधर उधर फिंकवा दिया गया हो, जो बाद में बटेश्वर गाँव में मिला। अगर इस महल में लगे मिट्टी पत्थर आदि की कार्बन फोर्टीन आदि वैज्ञानिक तरीकों से जाँच कराई जावे, तो इसके निर्माण काल का यथार्थ इतिहास प्रकट हो सकता है।

बादशाहनामा जो शाहजहाँ के समय लिखा गया, उसके पहले खण्ड के पृष्ठ ४०२-४०३ पर लिखा महानगर के दक्षिण में भव्य भवन जो हरित उद्यान से घिरा हुआ है; जिसका केन्द्रीय भवन राजा मानसिंह के प्रासाद के नाम से जाना जाता था। अब राजा जयसिंह जो मानसिंह का पौत्र था के अधिकार में था। बेगम के दफनाने के लिये चुना गया, जो स्वर्ग जा चुकी थी। यद्यपि राजा जयसिंह उसे अपने पूर्वजों के उत्तराधिकार और सम्पदा के रूप में मूल्यवान समझता था, तो भी बादशाह को निःशुल्क देने को तैयार था। उस भव्य प्रासाद के बदले जयसिंह को एक साधारण टुकड़ा दिया गया।

उस महानगर में शव पहुँचने के बाद १५ जमाहुज सानिया को अगले वर्ष स्वर्गीय महारानी का सुन्दर शरीर दफना दिया गया। राजधानी के अधिकारियों द्वारा शाही फरमान के अनुसार गगनचुम्बी गुम्बद के नीचे उस पुण्यात्मक रानी का शरीर संसार की आँखों से ओझल हो गया।

A guide to Taj at Agra अजीजुद्दीन द्वारा लाहौर से प्रकाशित पुस्तक के पृष्ठ १४ पर लिखा कि श्रमिकों से बलात् कार्य करवाया गया और बीस हजार श्रमिकों को नकद बहुत कम दिया गया। १७ वर्ष तक काम किया। यहाँ तक कि भोजन भत्ते के रूप में जो अनाज दिया जाता था, उसे भी लुटेरे अधिकारी निर्ममता से कटौती कर लेते थे। कीन हेण्डबुक के पृष्ठ १५४ पर लिखा कि

दया कर हे दीनबन्धु हम निरीहों पर।
दी जा रही है हमारी बलि बेगम की मजार पर।।

ब्रिटेनिका में निर्माण व्यय ४ करोड़ तथा बादशाहनामा में ४० लाख रुपये लिखा है। महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष में ५० लाख है। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में निर्माण वर्ष १६३२ जबकि महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष में निर्माण वर्ष १६३१ से १६४३ जनवरी समाप्ति वर्ष है। अवधि बारह वर्ष है।

ब्रिटेनिका में लिखा कि अर्जुमन्द बानो बेगम की स्मृति में बनाया, जिसे मुमताज ए महल पुकारा जाता था, जबकि बादशाहनामे में मुमताज उल जमानी लिखा परन्तु ताजमहल की समता के लिए मुमताज जोड़ा गया।

स्लोमन के अनुसार ताजमहल का डिजाइनर फ्रान्सीसी इन्जीनियर और स्टोन डी बोरडी बेकस था। जबकि स्मिथ जोरानियो और दारोनियों को बताता है। जिसे पुरातत्वविद जोन मार्सल और ई.बी. हावेल ने कल्पित बताया।

मिर्जा मोहम्मदखान ने इल्यूस्टेटेड वीकली के लेख

के अनुसार अहमन्द महन्दिस और उसके तीन पुत्रों को ताजमहल का निर्माता बताया। कीन ने फारसी पाण्डुलिपि के आधार पर ईसाअफन्दी बताया किन्तु स्वयं ने इस प्रपत्र को सन्देहास्पद माना था। इम्पीरियल लायब्रेरी मेन्युस्क्रिप्ट में कारीगरों की लिस्ट में पाँच कन्नोज के कलाकारों के नाम दिये गये, जो सभी भारतीय थे। वर्तमान में आगरा शैली के उत्तम कलाकार भी भारतीय ही हैं। इसका कारण यह है कि २७ मई १९७३ में मराठी दैनिक लोकसत्ता में प्रकाशित लेख के लेखक जगदीश के अनुसार सन् १९३९ के प्रारम्भ में ताजमहल की देखरेख के लिये नियुक्त ब्रिटिश इन्जीनियर ने ताजमहल के गुम्बद में एक दरार पड़ी देखी, उसकी मरम्मत करानी चाही; कि सभी उच्च अधिकारी इस कार्य को करने में असफल रहे। बाद में इन्जीनियरों की एक समिति मरम्मत के लिए नियुक्त की गई; किन्तु वे सभी इस कार्य में असफल रहे। सभी अधिकारी किंकर्तव्यं विमूढ़ थे। यह बात एक भारतीय कारीगर, जो गाँव का रहने वाला था को मालूम हुई। वह उनके पास गया और निवेदन किया कि मैं इस कार्य को करने में समर्थ हूँ, मुझे अवसर दिया जाये। तब ब्रिटिश इन्जीनियरों ने बेमन से उसे अनुमति प्रदान की। उसने कुछ राजगीरों के साथ लेकर गारा चूने का मसाला बनाया और स्वयं अपने हाथों से दरार में भर दिया। चूने का मसाला भरने के बाद मूल गुम्बद इस प्रकार जुड़ गया कि दो दिन बाद दरार का कोई नामो निशान भी नहीं बचा। यह बात जब वायसराय के पास पहुँची, तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि एक अनपढ़ कारीगर ने सब इन्जीनियरों को मात कर दिया। वायसराय की प्रशंसा से अधिकारियों के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हो गई। कुछ अधिकारी उसे रख- रखाव के लिये अधीक्षक नियुक्त करना चाहते थे परन्तु उदासीनता के कारण ध्यान नहीं दिया गया। बाद में सन् १९३८ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया।

सन् १९४२ में डॉ० अम्बेडकर को वायसराय की कार्य समिति का सदस्य बनाया गया, उन्हें श्रम विभाग सौंपा गया था। ताजमहल की मरम्मत करने वाले कलाकार पूरन चन्द ने अपनी टूटी- फूटी हिन्दी में अपनी कुण्ठा को अभिव्यक्त करते हुए लिखा, तब उन्होंने वायसराय लॉर्ड लिथिगों से पूरन चन्द का परिचय कराया तथा लिखा कि दो ऐतिहासिक भवनों की देखरेख के लिये पूरनचन्द को सहायक इन्जीनियर नियुक्त करना चाहते हैं तथा उसे राष्ट्रीय सम्मान प्रदान करने का परामर्श दिया। वायसराय ने उसे स्वीकार कर पूरन चन्द को राय साहब की उपाधि प्रदान की। यह सब रिकॉर्ड में है, जो उस लेख के लेखक गुलाबराय जगदीश की मान्यता की पुष्टि करता है।

ऐतिहासिक साक्ष्यों तथा तथ्यों का विश्लेषण

१. मुमताज की मृत्यु के बहुत वर्षों पहले बाबर के संस्मरण में उस स्वयं के ताजमहल में ठहरने तथा मरने का उल्लेख है।

२. बटेश्वर में मिले शिलालेख से पता चलता है कि यह एक विष्णु तथा शिव का मन्दिर था क्योंकि ऐसा भव्य महल आगरा के अतिरिक्त पास में कोई भी नहीं है।

३. जो इतिहासज्ञ यह कहते हुए नहीं थकते कि ताजमहल शाहजहाँ ने बनाया, वे नहीं जानते हैं कि शाहजहाँ तथा औरंगजेब के समकालीन किसी इस्लामी दरबारी दस्तावेज या तवारीख में ताजमहल शब्द का वर्णन नहीं है। इसके विपरीत शाहजहाँ का दरबारी इतिहास बादशाहनामा स्वयं भाग १ पृष्ठ ४०३ के अनुसार मानता है कि मानसिंह नाम का गुम्बद वाली आलीशान इमारत जयपुर नरेश की है। उस पर कब्जा कर मुमताज को दफनाया गया। पुरातत्व खाते के अनुसार ताजमहल का निर्माण शाहजहाँ ने सन् १६३१ से १६५३ तक बाईस वर्षो में कराया। इन तथ्यों के विषय में इतिहासज्ञों के मध्य मतभेद होना भी इस विषय के मिथ्यात्व को प्रकट करता है, फिर भी यह मान लिया जावे, तो भी सन् १६५२ में शाहजादा औरंगजेब ने बादशाह शाहजहाँ को पत्र लिखकर शिकायत की कि मैं महावत खाँ के बाग में ठहरा तथा पवित्र कब्र पर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने गया किन्तु कब्र के ऊपर गुम्बद के उत्तरी भाग में दो- तीन स्थान पर पानी टपकता है। इसी प्रकार दूसरी

मंजिल पर बने अनेक कक्ष, चार छोटे गुम्बद चार उत्तरी भाग में गुप्त कक्ष एवं छतें तथा बड़े गुम्बद को इस बरसात में अनेक स्थानों पर पानी लग गया है। उन सबको मैंने अस्थाई तौर पर मरम्मत करवादी है। उनकी आने वाली वर्षो में क्या स्थिति होगी?

मेरा विचार है कि दूसरी मंजिल की छत को उखाड़कर पुनः गारे चूने ईंटों और पत्थरों से बनाने की आवश्यकता है। सभी छोटे- बड़े गुम्बदों को मरम्मत होने पर गलने से बचाया जा सकता है। ऐसी आशा की जाती है कि बादशाह सलामत विचार कर आवश्यक कार्यवाही का निर्देश देंगे।

यह पत्र यादगार डॉ. आलम गिरी तथा राजकीय अभिलेखागार दिल्ली में सुरक्षित पाण्डुलिपि के पृष्ठ ८२ पर उल्लिखित हैं। इस प्रकार एक तरफ औरंगजेब स्वयं ताजमहल को सन् १६५२ में पुरानी इमारत बताता है दूसरी तरफ भारत सरकार का पुरातत्व विभाग १६५३ में नई इमारत बताता है। क्या आजकल के इतिहासज्ञ औरंगजेब की माता की कब्र के विषय में स्वयं शाहजहाँ तथा औरंगजेब से अधिक जानकारी रखते हैं? यह तथ्य विचारणीय है।

४. वहाँ खड़े हो ऊपर छत पर देखने पर भारतीय कला के चित्र बने है। मध्य में अष्ट दिशा सूचक आठ बाण हैं। दूसरे चक्र में १६ सर्प अंकित हैं तीसरे चक्र में ३२ त्रिशूल हैं और चौथे चक्र में ६४ कमल के चिन्ह हैं। ये सब वैदिक परम्परा के दिग्दर्शक हैं।

५. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका में आरक्षीनिवास, अतिथि कक्ष तथा अश्वशाला का उल्लेख है। कब्र में अश्वशाला का क्या काम है?

६. पीटर मुण्डी जो १६०८-१६६७ में यूरोप और एशिया के भ्रमणार्थ आया था, ने अपनी दैनिकी में बताया कि मकबरे के चारों ओर पहले से ही स्वर्ण रेलिंग थीं यह रेलिंग बाद में हटा दी गई, ऐसा प्रतीत होता है।

७. बादशाहनामे में हामीदी लिखता है कि बकरे के मांस के बजाय कुत्तों का मांस बेचा जाता था। आटे में हड्डियां पीस कर मिलाई जाती थीं। लोग अपने लड़कों की अपेक्षा उनके मांस से अधिक प्यार करते थे। जो लोग कभी बाहर नहीं गये, उन्हें रोजगार के लिये बाहर जाना पड़ा। जो भूमि उपजाऊ समझी जाती थी, वहाँ उपज का कोई चिन्ह नहीं था। क्या ऐसी दरिद्रता तथा अभाव में इतना भव्य महल बनाया जा सकता है?

८. वर्नियर तथा मानुसी ने शाहजहाँ के व्यक्तिगत जीवन को कामुकतापूर्ण तथा कलंकों के विस्तार का उल्लेख किया। मानुसी कहता है कि उसे एक ही बात की परवाह थी वासना- तृप्ति के लिये सुन्दरियों की तलाश। वर्नियर लिखता है कि उसका (शाहजहाँ का) संभोग की तरफ बहुत झुकाव था। शाहजहाँ ने अपनी कामुकता की तृप्ति के लिये अपने परिवार तक को भी नहीं छोड़ा, जिसका वर्णन करना सभ्यता से परे है।

६. शाहजहाँ का काल विद्रोह तथा परस्पर युद्धों का काल था। उस समय उसके पास सम्पत्ति, शान्ति तथा प्रेरणा का अभाव था।

१०. ताजमहल के चप्पे- चप्पे पर भारतीय चित्रकारी का दृश्य दिखाई पड़ता है। उनको पूर्णरूपेण मिटाया नहीं जा सकता था। अतः दरवाजों के पास किनारों पर कुरान या अन्य आयतें अंकित करवाकर अपने नाम से इमारत का बनवाना प्रसिद्ध कर दिया क्योंकि उनका उस समय शासनाधिकार तथा वर्चस्व था।

११. अमेरिकन पर्यटक बेयर्डटेलर ने अनजाने में ही सही पर सत्य को उद्घाटित कर दिया कि इस तथ्य पर आश्चर्य होता है कि जहाँ मुसलमानी साम्राज्य का केन्द्र था, वहाँ तो मुस्लिम कला बहुत कम मात्रा में दिखाई देती किन्तु इसके विपरीत बहुत दूर सीमान्त प्रदेशों में (स्पेन और भारत) बहुत बड़ी तीव्रता से अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। ऐसी कलाकारी मक्का मदीना तथा अन्य मस्जिदों पर क्यों नहीं है?

१२. ताजमहल के निर्माणकर्त्ता, डिजाइनरों तथा इन्जीनियरों के विषय में इतिहासज्ञों का मतभेद निर्माणकाल की अनिश्चितता अथवा मतभेद सिद्ध करता है कि शाहजहाँ इसका निर्माता नहीं था। यदि कार्बन १४ द्वारा प्राचीन पत्थरों तथा मिट्टी का परीक्षण वैज्ञानिक दृष्टि से कराया जावे तथा खुदाई कर जाँच करवाई जावे, तो सत्य जनता के सामने आ सकता है। ❑❑

मूर्तिपूजा पर ऋषि दयानन्द का अकेले काशी के ४० दिग्गज विद्वानों से सफल शास्त्रार्थ

(मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून)

ऋषि दयानन्द ने अपने जीवन में जो महान् कार्य किए, उनमें से एक काशी के दुर्गाकुण्ड स्थित आनन्द बाग में लगभग ५०-६० हजार लोगों की उपस्थिति में **'मूर्तिपूजा वेदसम्मत नहीं है',** विषय पर उनका शास्त्रार्थ भी था, जिसमें स्वामी जी विजयी हुए थे। यह शास्त्रार्थ आज से १४८ वर्ष पूर्व १६ नवम्बर, १८६९ को हुआ था। इस शास्त्रार्थ में दर्शकों में दो पादरी भी उपस्थित थे। जिले के अंग्रेज कलेक्टर शास्त्रार्थ का आयोजन रविवार को कराने के इच्छुक थे, जिससे वह भी इस शास्त्रार्थ में उपस्थित रह सकें। उनके आने से पण्डित कानून हाथ में लेकर अव्यवस्था व मनमानी नहीं कर सकते थे, अतः काशी नरेश श्री ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह ने इसे मंगलवार को आयोजित किया था। काशी के सनातनी पौराणिक पण्डितों को यद्यपि इस शास्त्रार्थ में मूर्तिपूजा को वेदसम्मत सिद्ध करना था परन्तु पौराणिकों की वेद में गति न होने और मूर्तिपूजा का वेदों में कहीं विधान न होने के कारण वह शास्त्रार्थ में वेदों व प्रमाणिक ग्रन्थों का कोई प्रमाण नहीं दे सके थे। वह विषय को बदलते हुए विषयान्तर की बात करते रहे। यह शास्त्रार्थ सायं ४ बजे से ७ बजे तक लगभग ३ घंटे हुआ था। इतिहास में ऐसा उदारहण नहीं मिलता कि स्वामी दयानन्द से पूर्व कभी किसी विद्वान् ने मूर्तिपूजा का खण्डन करने के साथ-साथ उसे वेदविरुद्ध भी घोषित किया हो। स्वामी शंकराचार्य जी की पुस्तक विवेक चूड़ामणि में भी ईश्वर के सर्वव्यापक व निराकार स्वरूप का वर्णन किया गया है परन्तु उसमें मूर्तिपूजा के वेदसम्मत होने या न होने पर शंका नहीं की गई है और न किसी को शास्त्रार्थ की चुनौती ही दी गई है। ऋषि दयानन्द को परमात्मा से अति उच्च कोटि की परिमार्जित दिव्य बुद्धि व विवेक प्राप्त हुआ था। उन्होंने न केवल मूर्तिपूजा को अवैदिक घोषित कर उसका खण्डन किया अपितु देश की उन्नति में सर्वाधिक बाधक, देश के पराभव, पराधीनता एवं सभी बुराइयों का कारण मूर्तिपूजा को ही माना है। उनके अनुसार ईश्वर-पूजा के स्थान पर मूर्तिपूजा ईश्वरप्राप्ति का साधन नहीं है, अपितु यह एक ऐसी गहरी खाई है, जिसमें मूर्तिपूजक गिर कर नष्ट हो जाता है। यह ज्ञातव्य है कि कोई भी कार्य यदि विधिपूर्वक न किया जाये और साधक को इष्टदेव का सच्चा स्वरूप व प्राप्ति की विधि ज्ञात न हो, तो वह कभी ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता। यह आश्चर्य की बात है कि भारत में उपासना के लिए योग और सांख्य दर्शन जैसे ग्रन्थ होते हुए भी काशी के शीर्ष विद्वान् मूर्तिपूजा का समर्थन करते थे और स्वयं भी ईश्वर के यथार्थ गुणों के आधार पर यम-नियम का पालन तथा धारणा एवं ध्यान न करते हुए पाषाण व धातुओं की बनी हुई मूर्तियों को धूप व नैवेद्य देकर ईश्वर पूजा की इतिश्री समझते थे। यह उनकी घोर अविद्या थी। आज भी हमारे पौराणिक सनातनी भाई मूर्तिपूजा करते हैं। उनके विवेकहीन अनुयायी भी उनका अनुकरण व अनुसरण करते हुए विधिहीन तरीके से पूजा करके ईश्वर के पास जाने के स्थान पर उससे दूर हो जाते हैं, जिसकी हानि उन्हें इस जन्म व भावी जन्मों में उठानी पड़ती है। जो भी मनुष्य मूर्तिपूजा करेगा, वह इससे होने वाली हानियों को उठायेगा। इसका उल्लेख ऋषि दयानन्द ने अपने प्रमुख ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में मूर्तिपूजा में सोलह प्रकार के दोषों को सप्रमाण व तर्क के साथ किया है।

मूर्तिपूजा पर स्वामी दयानन्द जी के कुछ विचारों की चर्चा भी कर लेते हैं। उनके अनुसार मूर्तिपूजा का आरम्भ जैनमत से हुआ। सत्यार्थप्रकाश में वह लिखते हैं कि जैनियों ने मूर्तिपूजा अपनी मूर्खता से चलाई।

जैनियों की ओर से वह एक कल्पित प्रश्न प्रस्तुत करते हैं कि शान्ति ध्यानावस्थित बैठी हुई मूर्ति देख के अपने जीव वा आत्मा का भी शुभ परिणाम वैसा ही होता है। इसका उत्तर देते हुए स्वामी दयानन्द जी कहते हैं कि आत्मा वा जीव चेतन और मूर्ति जड़ गुण वाली है। क्या मूर्ति की पूजा करने से जीवात्मा भी अपने ज्ञान आदि गुणों से क्षीण व शून्य होकर जड़ हो जायेगा? स्वामी जी कहते हैं कि मूर्तिपूजा केवल पाखण्ड मत है तथा मूर्तिपूजा जैनियों ने चलाई है। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में चौदह समुल्लास लिखे हैं। बारहवां समूल्लास जैनमत की मान्यताओं की समीक्षा पर लिखा है। उस समुल्लास में भी स्वामीजी ने जैनमत की मूर्तिपूजा विषयक मान्यताओं का सप्रमाण खण्डन किया है।

मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए स्वामीजी अनेक प्रबल तर्क देते हैं। वह कहते हैं कि जब परमेश्वर निराकार, सर्वव्यापक है, तब उस की मूर्ति ही नहीं बन सकती और जो मूर्ति के दर्शनमात्र से परमेश्वर का स्मरण होवे, तो परमेश्वर के बनाये पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि अनेक पदार्थ, जिन में ईश्वर ने अद्‍भुत रचना की है, क्या ऐसी रचनायुक्त पृथिवी, पहाड़ आदि परमेश्वर रचित महामूर्तियाँ कि जिन पहाड़ आदि से वे मनुष्यकृत मूर्तियाँ बनती हैं, उन को देख कर परमेश्वर का स्मरण नहीं हो सकता? जो मूर्तिपूजक कहते हैं कि मूर्ति के देखने से परमेश्वर का स्मरण होता है, उनका यह कथन सर्वथा मिथ्या है, इसलिए कि जब वह मूर्ति उनके सामने न होगी, तो परमेश्वर के स्मरण न होने से वह मनुष्य एकान्त पाकर चोरी, जारी आदि कुकर्म करने में प्रवृत्त भी हो सकते हैं। वह क्योंकि जानते हैं कि इस समय यहाँ उन्हें कोई नहीं देखता। इसलिये वह मूर्तिपूजक अनर्थ करे बिना नहीं चूकता। इत्यादि। ऐसे अनेक दोष पाषाणादि मूर्तिपूजा करने से सिद्ध होते हैं।

यह भी बता दें कि काशी-शास्त्रार्थ से पूर्व वहाँ के शीर्ष विद्वान् पण्डितों ने अपने शिष्य व विद्वानों को स्वामी दयानन्द जी की विद्या की परीक्षा व जानकारी लेने के लिए गुप्त रूप से उनके पास भेजा था। यह विद्वान् थे रामशास्त्री, दामोदर शास्त्री, बालशास्त्री और पं० राजाराम शास्त्री आदि। यह विद्वान् स्वामी जी के पास उनका शास्त्रीय ज्ञान का स्तर जानने के लिए आये थे। काशी के पण्डित अपने पक्ष की निर्बलता को जानते थे। इसलिए वह राजा ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के कहने पर भी शास्त्रार्थ के लिए उत्साहित नहीं हो रहे थे। इस कारण राजा ने उन्हें प्रत्यक्ष रूप से स्वामी दयानन्द जी से शास्त्रार्थ करने के निर्देश व आज्ञा दी थी। राजा जी ने मूर्तिपूजा से उन्हें प्राप्त होने वाली सुख सुविधाओं व धन वैभव का भी हवाला भी दिया था। यह भी ज्ञातव्य है कि स्वामी जी के वेद प्रचार व मूर्तिपूजा के खण्डन से काशी के लोग बड़ी संख्या में प्रभावित हो रहे थे और मूर्तिपूजा करना छोड़ रहे थे। इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी काशी नरेश व पण्डितों पर पड़ रहा था परन्तु मूर्तिपूजा के पक्ष में शास्त्रीय प्रमाण न होने के कारण वह किंकर्तव्यविमूढ़ बने हुए थे। काशी के प्रमुख पण्डित पं. बालशास्त्री आदि ने अपनी शिष्यों पं० शालिग्राम शास्त्री, पं० ढुंढिराज शास्त्री धर्माधिकारी, पं० दामोदर शास्त्री तथा पं० रामकृष्ण शास्त्री आदि को स्वामी जी के निकट भेजकर स्वामी जी द्वारा मान्य प्रमाणिक ग्रन्थों की सूची लाने के लिए भेजा था। बाद में काशी नरेश ने अनुरोध किया और पुलिस कोतवाल पं० रघुनाथ प्रसाद ने मध्यस्थता की, तो स्वामी जी ने अपने द्वारा मान्य प्रमाणिक ग्रन्थों की सूची स्वहस्ताक्षर सहित उन्हें दे दी। उनके द्वारा उस समय जो २१ शास्त्र प्रमाण कोटि में स्वीकार किये गये थे, वे चार वेद संहिताएं, चार उपवेद, वेदों के ६ अंग, ६ उपांग तथा प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़कर मनुस्मृति।

शास्त्रार्थ के दिन स्वामी दयानन्द जी के एक भक्त पं० बलदेव प्रसाद शुक्ल ने स्वामी जी से कहा कि महाराज, यह काशी नगरी गुणों का घर है। यदि यह शास्त्रार्थ फर्रुखाबाद में होता, तो वहाँ आपके दस- बीस

शेष पृष्ठ २७ पर

मृत्युभोज - एक सामाजिक कलंक

(गंगाशरण आर्य, मो०:-०९८७१९४४१९५)

मृत्युभोज- ऐसा है मानो घर में किसी की मृत्यु होने पर गमी अर्थात् शोक नहीं बल्कि खुशियाँ मनाई जा रही हों। जाने वाले के नाम पर विवाह आदि उत्सवों के समान तेरहवीं के दिन भोज कराया जाता है। इंसान स्वार्थ व खाने के लालच में आज कितना गिरता जा रहा है कि वह ये भी नहीं देखता कि जहाँ वह भोजन करने जा रहा है, वहाँ किसी की मृत्यु हुई है। ऐसा लगता है, जैसेकि उसे किसी के सुख या दुःख से आज कोई लेना देना ही न हो। उसे तो बस अपना पेट भरने से मतलब रह गया है, जबकि पहले ऐसा कभी नहीं था। पहले अर्थात् जब मैं छोटा था, तो उस समय मैंने देखा है कि जब किसी के घर में मृत्यु हो जाती थी, तो खाना बनना तो दूर उनके घर में किसी भी प्रकार का शोर-शराबा नहीं किया जाता था। टेलीविजन, रेडियो, सिलाई मशीन, आदि का प्रयोग भी १०-१२ दिन तक नहीं किया जाता था, न ही कोई चक्की आदि से पीसना किया जाता था क्योंकि उस काल में रोजाना चक्की में पीसकर ही खाने की परम्परा थी कई-कई दिन का अनाज पीस कर नहीं रखा जाता था इसलिए मृत्यु हो जाने पर खिचड़ी बनाने का सामान आदि भी रिश्तेदार लेकर आते थे, जो पड़ोसियों के द्वारा बनाकर रिश्तेदारों व परिवारजनों को खिलाई जाती थी। मृतक के घर में भोजन इसलिए नहीं बनाया जाता था क्योंकि उनका हृदय जाने वाले के दुःख की पीड़ा से भरा होता था। उनके ही परिवार में नहीं बल्कि पूरे गाँव में कहीं भी विवाह आदि के अवसर पर भी ढोल नहीं बजाया जाता था। जब तक कि परिवार के मृतक का परिवार गहन दुःख की पीड़ा से बाहर नहीं निकलता था। सब एक दूसरे के दुःख में दुःखी होते थे। इतनी संवेदनशीलता थी एक-दूसरे के प्रति, लेकिन वर्षों पहले कुछ स्वार्थी लोगों के द्वारा भोले-भाले इंसानों में एक पीड़ादायक कुरीति फैलाई गई थी, जिसे आज हम मृत्युभोज के नाम से जानते हैं। मानवीय संवेदना के रास्ते में यह गंदगी कैसे पनप गयी, समझ से परे है। जानवर भी अपने किसी साथी के मरने पर मिलकर दुःख प्रकट करते हैं लेकिन इंसानी बेईमान दिमाग की करतूते देखो कि यहाँ किसी व्यक्ति के मरने पर उसके साथी, सगे-सम्बन्धी भोजन करते हैं। मिठाईयाँ खाते हैं। किसी के घर में खुशी का मौका हो, तो समझ में आता है कि मिठाई बनाकर, खिलाकर खुशी का इजहार करें, खुशी जाहिर करें। लेकिन किसी के मरने पर मिठाइयाँ परोसी जायें, खाई जायें, इस शर्मनाक परम्परा को मानवता की किस श्रेणी में रखें? इंसान की गिरावट को मापने का पैमाना कहाँ खोजें? इस भोज के भी अलग-अलग तरीके हैं। लोग इसे ब्रह्मभोज भी कहते हैं। कहीं पर यह एक ही दिन में किया जाता है। कहीं तीसरे दिन से शुरू होकर बारहवें-तेरहवें दिन तक चलता है। कई लोग श्मशान घाट से ही सीधे मृत्युभोज का सामान लाने निकल पड़ते हैं। मैंने तो ऐसे लोगों को सलाह भी दी कि क्यों न वे श्मशान घाट पर ही टेंट लगाकर जीम लें, ताकि अन्य जानवर आपको गिद्ध से अलग समझने की भूल न कर बैठें। रिश्तेदारों को तो बकायदा पगड़ी रस्म के कार्ड भेजे जाते हैं, जिसमें इस ब्रह्मभोज का भी निमन्त्रण होता है। छोड़ो, अब तो पूरा का पूरा गाँव व आस-पास का पूरा क्षेत्र टूट पड़ता है खाने को, तब यह हैसियत दिखाने का अवसर बन जाता है। आस-पास के कई गाँवों से ट्रेक्टर-ट्रोलियों में गिद्धों की भांति जनता इस घृणित भोज पर टूट पड़ती है।(पाठकों की जानकारी के लिए निवेदन है कि इलाहाबाद के क्षेत्र में दाह- क्रिया के तुरन्त पश्चात नहा-धोकर जलपान की क्रूर-परम्परा

है। क्रूर मैं इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि यह वहाँ की अनिवार्य परम्परा है, फिर चाहे मृत्यु एक गरीब पिता के जवान बेटे/बेटी की भी क्यों न हुई हो! १०-२०-५०-१००-२०० लोग हेसियत के हिसाब से बड़ी निर्लज्जता के साथ चाय,बर्फी,समोसे मजे से खाते हैं। संवेदनहीनता तो जैसे लोगों की मर ही चुकी है (दिनेश कु० शास्त्री, कार्या०-व्यवस्थापक)

आप सोच रहे होंगे कि मैं इस भोज को घृणित क्यों कह रहा हूँ? देखिए जब हमारे घर में कोई खुशी का अवसर होता है, तो हम सभी यारे-प्यारे एवं रिश्तेदारों को घर बुलाकर जिस भोज का आयोजन करते हैं व मिठाई आदि खिलाते हैं और खाते हैं, उस भोज में बनाया गया भोजन या मिठाई आदि प्रसन्नता एवं खुशियों के भाव से बनी होती है और मिठाई खाने में भी तभी अच्छी लगती है, जब खाने वाले के घर पर खुशी हो, जो खा रहा है, उसके मन में भी कोई खुशी हो इसलिए कहा भी है कि गुस्से और दुःख भरे मन से कभी भोजन नहीं करना चाहिए। क्यों कहा गया ऐसा क्योंकि जब हम गुस्सा करते हैं या हमारा मन दुःखी होता है, तब हमारे शरीर का नर्वस सिस्टम (स्नायु तंत्र) ठीक से काम नहीं करता है, जिससे उस समय किया गया अच्छा भोजन भी विषय के समान कार्य करता है लेकिन हमारे समाज में यह विडम्बना है कि जब किसी के घर में मृत्यु के पश्चात बैठना होता है, तो परिवारजनों के आँखों में आँसू भी नहीं सूखते हैं उसी दुःखी मन से परिजनों को चाहे कर्जा ही क्यों न उठाना पड़े, कर्जा उठाते हैं और भोजन का सामान लाकर तैयारी करते हैं, उस समय घर में हलवा-पूरी बनाई जाती है जिसमें अगर मना करे तो लोग ऐसा बोलते हैं कि सारे सगे सम्बन्धी, रिश्तेदार आएंगे तो उनके सामने अच्छा नहीं लगेगा। आज तो मरने वाले के परिवारजन ही मृतक की अन्त्येष्टि के पश्चात् घर में संवेदना प्रकट करने आए लोगों के लिए एक प्लेट में बीड़ी, सिगरेट के पैकेट खोलकर सजाकर रख देते हैं। मानो ये संवेदना प्रकट करने नहीं, बल्कि अपना टाइम पास करने के लिए आकर बैठे हों, कई जगहों पर तो हुक्का भी खूब जमकर पीया-पिलाया जाता है। ऐसे समय पर लोगों को चाहिए तो ये कि वे हवन इत्यादि करें ताकि मृतक का दूषित वायु व रोने वालों के कारण फैला ध्वनि प्रदूषण जल्दी से जल्दी घर से बाहर जाए, पर ये तो उल्टा ही करते हैं, स्वयं अपने शरीर को तो बीड़ी आदि पीकर घुएं से भरते ही हैं वातावरण को और भी अधिक प्रदूषित करते हैं। एक बार भी वहाँ बैठकर बीड़ी-सिगरेट पीने वालों से ये चर्चा नहीं करते कि क्यों अपनी जिंदगी को धुएं में उड़ा रहे हो, ये पावन शरीर तो ईश्वर का बनाया हुआ वह मन्दिर है, जहाँ आत्मा का मिलन परमात्मा से होता है। इस प्रकार की चर्चाएं तो बहुत दूर है ऐसी दुःख भरी घड़ी में लोग जरा भी शर्म संकोच नहीं करते बस बीड़ी-सिगरेट आदि अभक्ष्य पदार्थों का लुत्फ उठाने में लग जाते हैं। ये बड़ी कुरीति है यहीं नहीं बल्कि एक ओर भ्रान्त धारणा यह भी है कि मृतक का क्रियाकर्म करने वाले के लिए तेरहवीं तक मृतक का मनपसन्द भोजन बनाकर खिलाया जाता है। अब आप यहाँ विचार करो कि जो पुत्र अपने पिता से अति प्रेम करता था उसके मरने पर जिसके मुख से निवाला भी नीचे नहीं उतर रहा हो, तो उसको पिता की सद्गति के नाम पर पिता के मनपसन्द पकवान उस दुःख की घड़ी में खाने के लिए उसे मजबूर किया जाए तो ये कहाँ की समझदारी है। ये तो बड़े महापाप का कारण है और बल्कि मैं इसे कहूँगा घोर अमानवीय और असंवेदनशील कृत्य है। किसी के यहाँ मौत हुई और आप सामने वाले के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए गए हैं या सामने वाले को परेशान करने के लिए गए हैं। कई बार ऐसा होता है कि जो हमारे समाज में खाने- पीने की आदतें हैं, वो इतनी ज्यादा हो गई हैं कि प्रसंग- अप्रसंग कोई नहीं देखता जरा भी विचार नहीं करता, किसी के यहाँ मृत्यु

हुई बूढ़े की या जवान की तो सामने वाले को मजबूरीवश हलवाई बुलाना ही पड़ता है, मैन्यु सैट करना पड़ता है, केवल आपकी आवाभागत करने के लिए, ये बहुत बुरी बात है ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। जब मैंने समाज के बुजुर्गों से बात की व इस कुरीति के चलन के बारे में पूछा, तो उन्होंने बताया कि उनके जमाने में ऐसा नहीं था। उन्होंने बताया कि जिस दिन घर में किसी की मृत्यु हो जाती थी, तो नजदीक के सभी रिश्तेदार तो उसी दिन अन्त्येष्टि संस्कार पर पहुँच जाते थे लेकिन यातायात के साधनों की कमी के कारण बैलगाड़ी, तांगा आदि के माध्यम से दूर-दराज में रहने वाले रिश्तेदार ही घर पर मिलने आते थे। लगभग १०-१२ दिन तक सभी रिश्तेदार पहुँच जाते थे मिलने के लिए, सान्तवना देने के लिए, तो पड़ोसी उन्हें भोजन के लिए ले जाया करते थे। सादा भोजन करवा देते थे। मृत व्यक्ति के घर १२ दिन तक कोई भोजन नहीं बनता था। १३वें दिन कुछ सादे क्रियाकर्म होते थे। परिजन बिछुड़ने के गम को भूलने के लिए मानसिक सहारा दिया जाता था। लेकिन हम कहाँ पहुँच गए। परिजन के बिछुड़ने के बाद उनके परिवार वालों को जिंदगीभर के लिए एक और जख्म दे देते हैं। एक परिवार ने मृतक के जीते जी उसके इलाज के लिए चाहे २०० रूपये भी उधार न लिए हों लेकिन सामाजिक दबाव के कारण मृत्युभोज पर खर्च के लिए लाखों का कर्जा लेना पड़ता है। ऐसा नहीं करो, तो समाज में इज्जत नहीं बचेगी। क्या गजब पैमाने बनाये हैं हमने इज्जत के? इंसानियत को शर्मसार करके, परिवार को बर्बाद करके झूठी इज्जत पाने का पैमाना। कहीं-कहीं पर तो-मतलब दो आँसू बहाना नहीं बल्कि शोक का मतलब अन्दर से व्यथा होना है। गले के नीचे रोटी का टुकड़ा भी न उतरे तब तुम्हारा शोक है तो शोक के इस अवसर पर कपड़ों का लेन-देन भी जमकर होता है। केवल दिखाने के लिए इस कुरीति का पालन कर बरबादी की ओर बढ़ रहे कदमों को नहीं रोका गया, तो बड़े घरों की होड़ में किसी गरीब मृतक के परिवार का शोषण होने से समाज नहीं बचा सकेगा। मैं तो आप सबसे लेख के माध्यम से कहना चाहता हूँ कि पुराने समय में ऐसा होता था कि किसी के यहाँ कोई गमी होती थी, शोक होता था तो १०-१२ दिन तक कढ़ाई नहीं चढ़ती थी ये हमारी परिपाटी होती थी। शोक की अभिव्यक्ति करो मैं आप सभी पाठकगणों से ये कहना चाहता हूँ अगर किसी के यहाँ शोक या विपत्ति की घड़ी में बैठने जाओ या मिलने जाओ, तो एक नियम बना लो आज से जब मैं ऐसे व्यक्ति के घर जाऊंगा स्थानीय होने पर तो पानी के अलावा उसके घर में कुछ भी नहीं लूंगा जो कुछ भी लूंगा अपने घर में आकर लूंगा ताकि सामने वाले को कोई तकलीफ न हो। ये तो एक सोच की बात है। मानवीय सोच की बात है। तो मैं कहना चाहता हूँ कि (आस-पास) स्थानीय व्यक्ति के यहाँ जाओ तो ये संकल्प लो, ये नियम बना लो कि मैं पानी के अलावा कुछ नहीं पीऊंगा और बाहर दूर किसी के घर जाओ तो ये नियम बना लो कि मैं केवल खिचड़ी या सादी रोटी खाऊंगा या कोई कढ़ाई की चीज नहीं खाऊंगा ये तय कर लो ये समस्या, ये कुरीति अपने आप एक पल में समाप्त हो जाएगी, ऐसे समय में खिचड़ी या सादी रोटी खाकर काम चला ले, माना कि बाहर से आए हो पेट को आहार देना आवश्यक है लेकिन एक दिन क्या इतने से काम नहीं चला सकते? यदि तुम्हारा मन शोकाकुल है या शोकाकुल परिवार को सान्तवना देने के लिए गए हो, तो तुम उसे सान्तवना दो उसके लिए राहत दो मगर उसके लिए आफत मत बनो आफत बनना ये बड़ी भारी कुरीति है, कुरीति क्या मैं तो कहता हूँ ये अमानवीयता है। ऐसे कृत्य से स्वयं बचना चाहिए और मानव समाज को बचाना चाहिए। ये तो एक प्रकार से किसी की चिता की आँच पर रोटियाँ सेंकने जैसा हाल है। अभी आग बुझी नहीं कि खाने की आग पहले लग जाती है। इस

तरह का कृत्य महा कुकृत्य है। बड़ी पीड़ा होती है, जब यह देखता हूँ कि जवान मौत पर भी समाज के लोग जानवर बनकर मिठाइयाँ उड़ाने में शोकाकुल परिवार को मजबूर कर रहे हैं। पीड़ा होती है ये देखकर कि जब जवान माँ या बाप के मरने पर उनके बच्चे अनाथ होकर, सिर मुंडाये आस-पास घूम रहे होते हैं और समाज के प्रतिष्ठित लोग भी उस परिवार की मदद करने के स्थान पर भोज कर रहे होते हैं। और जब कभी हम जैसे इस अमानवीय कृत्य को बन्द करने की चर्चा समाज के लोगों से करते हैं, तो समाज के ऐसे-ऐसे कुतर्क शास्त्री इसकी वकालत करने के लिए खड़े हो जाते हैं, जिनकी बुद्धि के कपाट बन्द पड़े हैं। इनके तर्क देखिए- ये कहते हैं कि माँ-बाप जीवन भर तुम्हारे लिए कमाकर गए हैं, तो उनके लिए तुम कुछ नहीं करो? कहने का मेरा मतलब है कि इमोश्नल (भावनात्मक) अत्याचार शुरू कर देते हैं। जबकि वैदिक व्यवस्था में बताया गया है कि अन्त्येष्टि के बाद मृतक के लिए कुछ कर्म शेष नहीं। चाहे अपना बाप घर के कोने में भूखा पड़ा हो लेकिन यहाँ ज्ञान बांटने जरूर आ जाते हैं। हकीकत तो यह है कि आजकल अधिकांश माँ-बाप कर्ज ही छोड़कर जा रहे हैं। उनकी जीवन भर की कमाई भी तो कुरीतियाँ और दिखावे की भेंट चढ़ गयी। फिर अगर कुछ पैसा उन्होंने हमारे लिए रखा भी है, तो यह उनका फर्ज था। हम यही कर सकते हैं कि जीते जी उनकी सेवा कर लें। लेकिन जीते जी तो हम उनसे ठीक से बात भी नहीं करते। वे खाँसते रहते हैं, हम उठकर दवाई भी नहीं दे पाते हैं। अचरज हाता है कि वही लोग बड़ा मृत्युभोज या दिखावा करते हैं, जिनके माँ-बाप जीवन भर तिरस्कृत रहे। खैर! चलिए, अगर माँ-बाप ने हमारे लिए कमाया है, तो उनकी याद में हम कई जनहित के कार्य कर सकते हैं। जैसे कि जरूरतमंदों की मदद कर दें, अस्पताल या गुरुकुलों में कमरे बनवा दें, पेड़ लगा दें परन्तु छिके-छिकाए लोगों को भोजन करवाने से कैसा पुण्य होगा? कुछ बुजुर्ग तो समय से पूर्व इसी चिंता में मर जाते हैं कि मेरी मौत पर मेरा समाज ही मेरे बच्चों को नोंच डालेगा। मैं कहता हूँ कि कैसा फर्ज है और कैसा धर्म है तुम्हारा कि मरने वाले को भी शान्ति से नहीं मरने देता।

फिर ये कहते हैं कि आये मेहमानों को भूखा ही भेज दें? पहली बात तो शोक प्रकट करने आने वाले रिश्तेदार और मित्र, मेहमान की श्रेणी में नहीं आते हैं। उनको भी सोचना चाहिए कि शोक संतप्त परिवार को और दुःखी क्यों करें? अब तो साधन भी बहुत हैं। सुबह से शाम तक वापिस अपने घर पहुँचा जा सकता है। इस घिसे-पिटे तर्क को किनारे रख दें। मेहमाननवाजी खुशी के अवसर पर की जाती है, मौत पर नहीं। और यदि मृतक के घर मेहमान बनकर आए हैं, तो कुछ फल या मिठाई साथ लेकर क्यों नहीं आते? बेहतर यही होगा कि हम जब शोक प्रकट करने जायें, तो खुद ही किसी भी प्रकार के भोज्य पदार्थ के लिए नकार दें। फिर ये कहते हैं कि तुमने भी तो खाया था, तो खिलाना पड़ेगा? हमारे घर में आज मृत्यु है क्या पता कितने वर्षों पहले इनके घर में मृत्यु हुई थी इन्होंने हमें बुलाया था भा या नहीं, लेकिन आज हम बुलाएंगे तो कल इन्हें भी आग्रह करना ही पड़ेगा। इंसानियत पहले से इस कुकृत्य पर शर्मिन्दा है बुद्धि आने पर तो खराब परम्परा तोड़नी पड़ेगी। किसी व्यक्ति के मरने पर उसके घर जाकर भोजन करना तो पशुओं को भी मात देना है। पशु भी नहीं करते ऐसा तो। और अब इतनी पढ़ाई-लिखाई के बाद तो यह चीज प्रत्येक समझदार व्यक्ति को मान लेनी चाहिए। गाँव और कस्बों में मृत व्यक्ति के घरों में मिठाइयों पर टूट पड़ना बिल्कुल गलत है इसलिए सबको व्यक्तिगत स्तर पर इसका संकल्प लेना चाहिए कि मैं किसी के घर जाऊंगा, जाऊंगा जरूर लेकिन पानी तक सीमित रहूंगा और दूर-दराज गया, तो सामान्य भोजन करके अपना काम चलाऊंगा वो भी तब, जब

मेरे पास विकल्प न हो तो। यदि विकल्प है तो मैं ओर कहीं भी काम चला लूंगा तो ये आपका छोटा सा प्रयास समाज में एक बहुत बड़े बदलाव का आधार बनेगा। वैसे भी इसके पीछे वैज्ञानिक तथ्य भी है जैसे कि महाभारत के अनुशासन पर्व में भी लिखा है कि मृत्युभोज खाने वाले की ऊर्जा नष्ट हो जाती है। जिस परिवार में मृत्यु जैसी विपदा आई हो, उसके साथ इस संकट की घड़ी में जरूर खड़े हों और तन, मन, धन से सहयोग करें तथा बारहवीं या तेरहवीं या सत्रहवीं पर होने वाले मृतकभोज का पुरजोर बहिष्कार करें। महाभारत का युद्ध होने को था, अतः श्री कृष्ण ने दुर्योधन के घर जाकर युद्ध न करने के लिए सन्धि करने का आग्रह किया। दुर्योधन द्वारा आग्रह ठकराए जाने पर श्री कृष्ण जी को कष्ट हुआ और वह चल पड़े, तो दुर्योधन द्वारा श्री कृष्ण ने कहा कि "सम्प्रीति भोज्यानि आपदा भोज्यानि वा पुनैः" "जब खिलाने वाले का मन प्रसन्न हो, खाने वाले का मन प्रसन्न हो, तभी भोजन करना चाहिए। लेकिन जब खिलाने वाले एवं खाने वालों के दिल में दर्द हो, वेदना हो, तो ऐसी स्थिति में कदापि भोजन नहीं करना चाहिए।"

हिन्दूधर्म में सोलह संस्कार बनाए गए हैं, जिसमें प्रथम संस्कार गर्भाधान एवं अन्तिम तथा सोलहवां संस्कार अन्त्येष्टि है। इस प्रकार जब सत्रहवां संस्कार बनाया ही नहीं गया, तो सत्रहवां संस्कार, तेरहवां संस्कार कहाँ से आ टपका, पहली बात तो ये कि सत्रहवां संस्कार तो होता ही नहीं है और मरने वाले का तो अंतिम संस्कार ही किया जाता है तेरहवां संस्कार नहीं और जीवित का भी तेरहवां संस्कार तो विवाह संस्कार होता है सोलहवें संस्कार अन्त्येष्टि (अंतिम) के बाद का नहीं। लेकिन तेरहवें संस्कार का नाम लेकर तेरहवीं का भोज जाने कहाँ से आ गया? इससे साबित होता है कि तेरहवीं का भोज-कार्यक्रम समाज में बाद का नहीं। लेकिन तेरहवें संस्कार का नाम लेकर तेरहवीं का भोज जाने कहाँ से आ गया? इससे साबित होता है कि तेरहवीं का भोज-कार्यक्रम समाज में वेद-विरुद्ध चलने वाले धर्म के ठेकेदार बने चालाक ब्राह्मण वेशधारी लोगों के दिमाग की उपज है। किसी भी धर्मग्रन्थ में मृत्युभोज का विधान नहीं है। बल्कि महाभारत के अनुशासन पर्व में लिखा है कि मृत्युभोज खाने वाले की ऊर्जा नष्ट हो जाती है। लेकिन हमारे समाज का तो ईश्वर ही मालिक है। इसलिए महर्षि दयानन्द सरस्वती आदि महान मनीषियों ने मृत्युभोज का जोरदार ढंग से विरोध किया है। जिस भोजन बनाने का कार्य रो-रोकर हो रहा हो जैसे- लकड़ी फाड़ी जाती, तो रो-रोकर, आटा गूँथा जाता, तो रो-रोकर एवं पूड़ी बनाई जाती है रो-रोकर। यानि हर काम आँसुओं से भीगा हुआ, ऐसे आँसुओं से भीगे निकृष्ट भोजन अर्थात् बारहवीं एवं तेरहवीं के भोज का पूर्ण रूपेण बहिष्कार कर हम सब को एक सही दिशा प्रदान करनी चाहिए। जानवरों से भी सीखें, जिसका साथी बिछुड़ जाने पर वह उस दिन चारा नहीं खाता है। जबकि समस्त प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ मानव, जवान आदमी की मृत्यु पर हलुवा पूड़ी पकवान खाकर शोक मनाने का नाटक रचता है।

मृत्युभोज समाज में फैली कुरीति है व समाज के लिए अभिशाप है। हिन्दू समाज में जब किसी परिवार में मौत हो जाती है, तो सभी परिजन बारह दिन तक शोक मनाते हैं। तत्पश्चात् तेरहवीं का भोज कार्यक्रम होता है, जिसे एक जश्न का रूप दे दिया जाता है। इस दिन के कार्यक्रम के अन्तर्गत पहले कम से कम तेरह ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है जो चुपचाप खा लेते हैं जिसे जीमना भी कहते हैं। उसके बाद पण्डितों द्वारा स्वयं के लिए बताई गई वस्तुएं मृतक की तेरह ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है, जो चुपचाप खा लेते हैं जिसे जीमना भी कहते हैं। उसके बाद पण्डितों द्वारा स्वयं के लिए बताई गई वस्तुएं मृतक की आत्मा की शान्ति के लिए ब्राह्मणों को दान में दी जाती है। उसके पश्चात् सभी आगन्तुक रिश्तेदारों, मित्रों एवं मोहल्ले के सभी अड़ोसी-पड़ोसियों को मृत्युभोज के रूप

में दावत दी जाती है। जैसे कि कोई खुशी का उत्सव हो, विडम्बना यह है कि ये सभी संस्कार कार्यक्रम घर के मुखिया के लिए कराना आवश्यक होता है। वरना मृतक की आत्मा को शान्ति नहीं मिलती,ऐसा भय दिखाया जाता है। चाहे परिवार की आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण उसकी शान्ति कई वर्षों के लिए क्यों न भंग हो जाए पर उसे मृत्युभोज का आयोजन उसे कर्ज लेकर भी आयोजित करना पड़ेगा। यह सब एक परिवार को अपने से ऊपर न उठने देने का ईर्ष्या भाव है, जिसका प्रतिफल पूरे समाज को देखा-देखी भुगतना पड़ता है। दूसरी तरफ यदि परिवार सम्पन्न है परन्तु घर के लोग इस आडम्बर में विश्वास नहीं रखते, तो उन्हें मृतक के प्रति असंवेदनशील और कंजूस जैसे शब्द कह कर अपमानित किया जाता है। क्या यह तर्कसंगत है? परिवार के सदस्य की मौत का धर्म के नाम पर जश्न मनाया जाये? क्या यह उचित है? और आर्थिक रूप से सक्षम न होते हुए भी अपने परिजनों का भविष्य गरीबी के भार से दबाया जाये? सभी भाई इस पर विचार करे कि क्या मृत्युभोज करना सही है? यदि आप इस बात से सहमत हों, तो आप आज से संकल्प लें कि आप किसी के मृत्युभोज का ग्रहण नहीं करेंगे और मृत्युभोज प्रथा को रोकने का हर संभव प्रयास करेंगे। हमारे इस प्रयास से यह कुप्रथा धीरे-धीरे एक दिन अवश्य ही पूर्णतः बंद हो जाएगी। इसमें अगर 'धर्म' के नाम पर कोई अनुष्ठान करने को महसूस करते हो तो गौशाला में दान दें, उनको चारा दें, अनाथ बच्चों की मदद कर दें, जिनको भोजन नहीं मिलता हो, उनको भोजन करा दें और भी कई साधन हैं, जिनको करने से हमारी आत्मा को शान्ति मिलती है, मृतक की आत्मा को नहीं क्योंकि मृतक ने तो अपने जीते जी ही अपनी आत्मा की सद्गति के लिए जो शुभ कार्य किए हैं, वही उसके काम आएंगे। इसलिए आओ! एक आवाज के साथ आगे आएं और इसको बन्द करने में सहयोग करें।

❑❑

पृष्ठ २१ का शेष

भक्त और अनुयायी सामने आते परन्तु यहाँ काशी में तो आपको शत्रुओं के शिविर में जाकर रण- कौशल दिखाना होगा। दढ़ व अपूर्व ईश्वरविश्वासी स्वामी दयानन्द का पं० बलदेव जी को उत्तर था- बलदेव! डर क्या है? एक ईश्वर है, एक मैं हूँ, एक   धर्म है, और कौन है? सत्य का सूर्य प्रबल अज्ञान और अविद्या के अंधकार पर अकेला ही विजयी होता है। अपने अटल ईश्वरविश्वास के बल पर ही दयानन्द जी ने जड़-उपासना के प्रतीक दृढ़ दुर्ग काशी को अकेले ही भेदने का निश्चय किया था। शास्त्रार्थ के दिन स्वामी जी ने क्षौर कर्म कराया था, उसके बाद स्नान किया, शरीर पर मृतिका धारण की, इसके बाद पद्मासन लगाकर देर तक परमेश्वर का ध्यान किया। इसके बाद उन्होंने भोजन किया। भोजन के बाद वह शास्त्रार्थ- स्थल आनन्दबाग में शास्त्रार्थ आरम्भ होने के समय ४ बजे से पूर्व पहुँच गये थे। यह लेख पर्याप्त विस्तृत हो गया है। हम इस लेख में स्वामी दयानन्द के विपक्षी विद्वानों से हुए प्रश्नोत्तर भी देना चाहते थे परन्तु विस्तार भय से नहीं दे पा रहे है। इतना ही महत्वपूर्ण है कि काशी के पण्डितों ने वेदों से मूर्तिपूजा का कोई प्रमाण न देकर स्वामी जी को विषयान्तर करने का प्रयत्न किया। स्वामी जी के सभी प्रश्नों, धर्म व अधर्म के मनुस्मृति के अनुरूप लक्षण वा उत्तर भी वह न बता पाये। शास्त्रार्थ चल ही रहा था कि पं० विशुद्धानन्द शास्त्री जी ने अपनी विजय घोषित कर दी और शास्त्रार्थ-स्थल से अपने अनुयायियों की भीड़ के साथ ढोल बाजे बजाते हुए चले गये। पराजय में भी उत्सव मनाना हमारे पौराणिक विद्वानों को आता है। काशी शास्त्रार्थ की १४८वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में हमने यह विचार प्रस्तुत किये हैं। हम आशा करते हैं कि पाठक इसे पसन्द करेंगे। ओ३म् शम्।

❑❑

आर./आर. नं० १६३३०/६७
Post in Delhi R.M.S
०५-११/०२/२०१८
भार- ४० ग्राम

फरवरी 2018

रजिस्टर्ड नं० DL (DG -11)/8029/2018-20
लाईसेन्स नं० यू (डी०एन०) १४४/२०१५-१७
Licenced to post without prepayment
Licence No. U (DN) 144/2015-17

पाठकों से निवेदन

१. अपने पत्रों में अपनी ग्राहक संख्या अवश्य ही लिखा करें, अन्यथा कार्यवाही सम्भव नहीं होगी।
२. १५ तारीख तक प्रतीक्षा करके ही दुबारा अंक मँगाएं, यदि अंक न पहुँचा हो।
३. यदि आप अपना पता बदलवायें तो यह ध्यान रखें कि बदले हुए पते पर अंक-प्रेषण एक माह बाद आरम्भ होगा।
४. अंक के रेपर पर अपना पता चैक कर लिया करें। यदि कोई त्रुटि हो, तो सूचना दे दिया करें।
५. जिन ग्राहकों का शुल्क समाप्त है, अविलम्ब भेजने की कृपा करें।

दिनेश कुमार शास्त्री
कार्यालय व्यवस्थापक
मो०-९६५०५२२७७८

ओ३म्

भारत में फैले सम्प्रदायों की निष्पक्ष व तार्किक समीक्षा के लिए उत्तम कागज़, मनमोहक जिल्द, सुन्दर आकर्षक छपाई एवं (द्वितीय संस्करण से मिलान कर शुद्ध प्रामाणिक संस्करण)

सत्य के प्रचारार्थ

सत्यार्थ प्रकाश

सत्य के प्रचारार्थ

● प्रचार संस्करण (अजिल्द) 23×36÷16	मुद्रित मूल्य 50 रु.	प्रचारार्थ 30 रु.	प्रचारार्थ मूल्य पर कोई कमीशन नहीं
● विशेष संस्करण (सजिल्द) 23×36÷16	मुद्रित मूल्य 80 रु.	प्रचारार्थ 50 रु.	
● स्थूलाक्षर सजिल्द 20×30÷8	मुद्रित मूल्य 150 रु.		प्रत्येक प्रति पर 20% कमीशन

10 या 10 से अधिक प्रतियाँ लेने पर विशेष अतिरिक्त कमीशन

कृपया, एक बार सेवा का अवसर अवश्य दें और महर्षि दयानन्द की अनुपम कृति सत्यार्थ प्रकाश के प्रचार प्रसार में सहभागी बनें

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
427, मन्दिर वाली गली, खारी बावली, दिल्ली-6
Ph. :011-43781191, 09650622778
E-mail : aspt.india@gmail.com

छपी पुस्तक/पत्रिका

श्री सेवा में.........
ग्राम.........
डा0.........
जिला.........

मुद्रक, प्रकाशक व सम्पादक धर्मपाल आर्य, स्वामित्व आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, ४२७, गली मन्दिर वाली, नया बांस, खारी बावली, दिल्ली-११०००६ से प्रकाशित एवं तिलक प्रिंटिंग प्रेस, २०४६, बाजार सीता राम, दिल्ली-११०००६ से मुद्रित।